कबीर विषयक आलोचनाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की

डी० फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
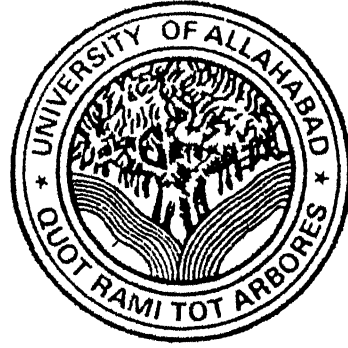
निर्देशक
डॉ० रुद्रदेव
(उपाचार्य)
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता
विजय शंकर दुबे
(शोध छात्र)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००२

"भारतीय रहस्यवादियों के इतिहास में एक बहुत ही रोचक व्यक्तित्व हैं कवि कबीर........कबीर की मेधा के सर्वश्रेष्ठ गुणों में एक यह गुण है कि उन्होंने अपनी कविताओं में अद्वैतवाद और द्वैतवाद को घुला-मिला कर एक कर दिया है .... एक महान धार्मिक सुधारक, इस पर भी एक रहस्यवादी कवि के रूप में कबीर हमारे लिए जीवन्त हैं.....।"

रविन्द्रनाथ टैगोर

आमुख

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में कबीर को समझने की अनेक कोशिशें हुई हैं। लेकिन प्रायः सभी में कुछ न कुछ कमियाँ रहीं हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक आलोचक ने उन्हें किसी न किसी सीमा में बाँधने की कोशिश की। कुछ के लिए उनका समाज सुधारक रूप मुख्य बन गया, तो कुछ के लिए उनका भक्त रूप। इन सब विचार धारणाओं से कबीर के अनेक रूपों का उद्‌घाटन हुआ लेकिन उनके यथार्थ व्यक्तित्व को कोई उभार नही पाया हैं। जिससे ऐसा लगता है कि कबीर में कुछ ऐसा है जो सारे विश्लेषण के बावजूद भी रह जाता है। यही मूल कबीरियत है। कबीर को समझना है तो इस कबीरियत के रहस्य तक पहुँचना होगा।

कबीर हिन्दी के पहले प्रमुख कवि हैं जिनमें गहरी प्रश्नाकुलता दिखाई पड़ती है। यथा स्थिति से विद्रोह करने वाला उनके जैसा व्यक्तितत्व मध्ययुग में नहीं हुआ। कबीर में समता और स्वतन्त्रता के आधुनिक मुल्यों का जैसा परिपाक मिलता है वैसा किसी और लेखक में नहीं। कबीर की यह महती विशिष्टता ही मुझे उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट कर रही थी। जिसके परिणाम स्वरूप मैनें इलाहाबद विश्वविद्यालय से परास्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात ऐसे ही महान युग पुरूष के सिद्धान्तों और विचारों पर शोध कार्य करने का विचार बनाया। जिसके लिए मुझे 'कबीर विषयक आलोचनाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन' विषय पर परमश्रद्धेय, गुरूदेव 'डॉ० रूद्रदेव' के निर्देशन में शोध कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

इस शोध प्रबन्ध को छः अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अध्याय में कबीर युगीन भक्तिकालीन सामाजिक, राजनैतिक, साहिंत्यिक, अध्यात्मिक परिवेश की जटिल परिस्थितियों के साथ कबीर के निर्गुण का वर्णन किया गया है। जिससे कबीर विशेष रूप से प्रभावित होकर ही समाज सुधार तथा 'प्रेम और भक्ति' के

माध्यम से सुदृढ़ और सुव्यवस्थित राष्ट्र और समाज के निर्माण के लिए प्रयास किया था।

द्वितीय अध्याय में कबीर के आलोचक के रूप में ब्राह्मणवादी (द्विज) विचारकों के चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए उनके विचार दृष्टि से अवगत कराया गया है। जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्याम सुन्दर दास, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय, डॉ० रामनिवास चंडक के ब्राह्मण वादी विचार दृष्टि को कबीर के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के साथ-साथ ही दलित विचारक डॉ० धर्मवीर के माध्यम से उनके विचारों को तार्किक रूप से खण्डन करते हुए प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में कबीर के आलोचना में दलित विचार डॉ० धर्मवीर के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः दलित लेखक का अभिप्राय है कि जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थता को भोगा है, दलित विचार उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है।

चतुर्थ अध्याय में कबीर के समाजवाद को प्रस्तुत किया गया है। जिसके लिए उन्होंने राष्ट्र, समाज और धर्म में व्याप्त विषमताओं को दूर करके सामंजस्य स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया था।

पंचम् अध्याय में वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कबीर की प्रांसगिकता के रूप में उनके विचारों के महत्व को दर्शाया गया है। जो तत्कालीन और वर्तमान दोनों दृष्टियों से उपादेयता को प्रस्तुत करती है।

अन्तिम अध्याय के रूप में उपसंहार को प्रस्तुत करते हुए कबीर के उस महत्व को दर्शाया गया है जो कि अर्थ में महान है, और उनके द्वारा किया गया कार्य भी इतिहास के पन्नों पर अमर लेख के समान हो गया है। यह बात और है कि कबीर अपने कृत कर्मों के लिए अन्धविश्वासियों की दृष्टि में आलोचना के लायक बने हुए हैं, और साथ-साथ खुद रहस्य भी।

अन्तिम दो शब्द के रूप में यह कहना है कि मुझे 'कबीर' जैसे महानपुरूष के आलोचनात्मक विषय पर शोध कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका, यह मेरे लिए ईश्वरीय कृपा ही थी। इसके लिए मैंने पूरी निष्ठा और लगाव के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए इस कार्य को पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास किया हूँ। यद्यपि इस शोध कार्य में मुझे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है क्योंकि शोध कार्य के दौरान पिताजी का स्वास्थ्य ठीक न रहने कारण उनकी देखभाल का दायित्व घर से नजदीक और भाइयों में छोटा होंने के कारण मुझ पर ही था। जिसके लिए मुझे कई चिकित्सकों से परामर्श लेने के लिए उनके साथ आना-जाना पड़ता था। ऐसी स्थिति में भी परमपूज्य पिता 'श्री रमानाथ दुबे' का प्रेरणा रूपी आशिर्वाद और ममतामयी माँ 'श्रीमती अमरावती देवी' की वात्सल्य अनुराग रूपी आशिर्वाद से मैंने इन कठिन परिस्थितियों को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा। ऐसी ही परिस्थिति में परमश्रद्धेय पूज्यनीय गुरूदेव 'डॉ० रूद्रदेव' के द्वारा प्रदान किये गये अविस्मरणीय सहयोग और निर्देशन के साथ-साथ अनुराग के लिए मैं जीवन भर कृतज्ञ रहूँगा। जिन्होंने मुझे अपने इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उचित मार्ग दर्शन किया है। इसके साथ ही मैं हिन्दी विभाग के श्रेष्ठ गुरूजनों में प्रो० राजेन्द्र कुमार, और प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र के प्रति हार्दिक सम्मान के साथ आभार प्रकट करता हूँ। जिन्होंने मुझे आवश्यकता पड़ने पर पूर्ण सहयोग दिया है।

शारदीय नवरात्र
२४ नवम्बर, २००२

-विजय शंकर दुबे

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

सामाजिक परिस्थिति:—

भक्तिकालीन साहित्याकाश में युग प्रवर्तक महापुरूष 'कबीर' का जन्म ऐसे तुफान के रूप हुआ, जो रूढ़ि एवं परम्पराओं की दीवारो को जर्जर कर अपने साथ नव-निर्माण की शक्ति लेकर आता है। कबीर ऐसे ही नये विचारधारणाओं के साथ नव युग के निमार्ण के लिए सामाजिक क्षेत्र में प्रचलित परम्परागत रूढ़ियो जन जीवन में फैले विविध कर्मकाण्डों एवं लोगों के व्यक्तिगत दुर्गुणों की भर्त्सना करके एक अभीष्ट समाज की स्थापना करना चाहते थे। इसी लिए उन्होंने राजनीतिक दुर्व्यवस्था एवं धार्मिक मतभेद का डटकर विरोध किया था। इससे स्पष्ट होता है कि उनके भीतर समाज को एक ऐसा रूप देने की परिकल्पना थी, जो सभी दृष्टियों से निर्दोष हो। कबीर ने हिन्दू मुसलमानों की सामाजिक कुरीतियों और सत्य पर आवरण डालने वाली धार्मिक मान्यताओं पर निर्भय होकर प्रहार किये है। क्योंकि तत्कालीन जनता स्मृति, वेद, पुराण तथा धर्मादि के नाम पर विविध वर्गो में बट गयी थी। जिससे सामाजिक एकता के सूत्र टूट गये थे। मानव-मानव में अनेक भेद की दीवारें खड़ी हो गयी थी। इन भेद की दिवारों को गिराकर समाज को एक समतल धरातल पर लाना था। पुरे मध्यकालीन युग में इस बात को केवल कबीर ही अनुभव कर रहे थे, और ऐसे समाज के निर्माण में वे साधु-संतो के सहयोग को लेकर प्रयत्नशील थे। इसीलिए संत समाज की स्थापना की थी।

उनका यह सन्त समाज जाति, धर्म एवं भाषा की संकुचित सीमाओं से परे था। उनका यह दृढ़ मत था कि हिन्दु-मुस्लिम आदि संज्ञाए मानवता की कृत्रिम सीमाएं है। इस सम्बन्ध में वे कहते थे कि हिन्दू और मुस्लिम जब एक ही प्रकार से उत्पन्न और मृत्यु को प्राप्त होता है, जीवन काल में एक ही प्रकार से प्राण संचार और रक्त संचार होता है, तो फिर रहन-सहन और धार्मिक मान्यताए तो कृत्रिम है। अस्वाभाविक है, वे मनुष्य कृत हैं, प्राकृत और ईश्वर कृत नहीं। उन्होंने सत्य के उस रूप का साक्षात्कार कर लिया था, जहाँ सभी विरोध-अविरोध समाप्त होते हैं और जहाँ वे जन्म ग्रहण करते है। उस अद्वैत सत्ता के साक्षात्कार के फलस्वरूप ही वे सभी के लिये मान्य एवं जीवन प्रतिमान के स्थिर करने में समर्थ हुए थे। क्योंकि प्राचीन वेदान्त ने चातुवर्ण्य समाज का निर्माण किया था और जन समुदाय को चार भागों में बाट दिया था, वही कबीर के नये वेदान्त ने सभी वेदों को मिटाकर एक संगठीत मानव समाज के निर्माण की वयवस्था की थी, कबीर के इस नये वेदान्त के प्रथम प्रचारक और प्रसारक थे। "कबीर कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य, सवर्ण पवित्र थे, और शूद्र या दास अपवित्र।"[1] इससे समाज में छुआछूत, ऊँच-नींच तथा छोटे-बड़े का भेदभाव था। उसे दूर करने का प्रयास किया। हिन्दू मुसलमान दोनों जातियों में पढ़े लिखे लोगों को ज्ञानी कहा जाता था, पांडे और मुल्लाओं का बोल बाला था।

उन्हीं के बताये हुए उपदेशो, कर्मकाण्डों पर जनता विश्वास करती थी। पर कबीर इनका विरोध कर समाज को सही रास्ता अपनाने के लिए काजी और मुल्ला के वास्तविक स्वरूप को इस प्रकार उजागर किया है – "कबीर के मत से काजी वह है जिसको काल नहीं वयाप्त है, जो अमृत हो जाता है और पंडित वह है, जो राम शब्द का अर्थ समझता है।"[2] गुरूनानक ने भी इसी प्रकार पंडित की परिभाषा की है, अर्थात सो पंडित जो मन पर बाधे रामनाथ आतम के सोधौ। और ब्रह्म वह है जो ब्रह्म को विचारता है, ब्रह्म विज्ञ और योगी वह है जिसे संसार का पारंगत ज्ञान है, संसार को तत्वतः समझा है। कबीर की उपयुक्त पंक्तियों में प्रचलित अर्थो से भिन्न काजी, पण्डित और योगी का परिभाषायें की गयी है।

इसके साथ ही उन्होंने अध्यात्म ज्ञान हीन और रूढ़िगत व्यक्तियों को जो सहज मानवता के मार्ग में बाधक हैं। अत्यन्त फटकार लगायी है। अपनी इस फटकार से न तो उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को वंचित रखा है, और न पंडित मुल्लाओं को।

समाज में ब्राह्मण काजी अपना कर्त्तव्य भूल कर या छोड़कर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए निम्न कार्यो में लगे रहथे। कबीर को यह सब सह्य नहीं था। उनका कथन है कि वास्तविक ब्राह्मण वही है जो शुद्ध भाव से भगवत् चिंतन करे और भक्ति का उपदेश दे, ब्रह्म विचार करे। सच्चे अर्थो में काजी कहलाने का श्रेय भी उसी को मिलना चाहिए, जो भगवान को जानता हो अर्थात् भगवत् भजन का प्रेमी हो और निःस्वार्थ भाव से समाज सेवा में लगा हो। इन लोंगों

का मुख्य काम ब्रह्म ज्ञान की उपलब्धि करना हैं।

वैश्य जाति होंने का तात्पर्य यह नहीं है कि इसका स्थान समाज में बहुत ऊँचा है। असल चरित्र ज्ञान है-विवेक है जिससे मनुष्य की पहचान बनती है। आडम्बर पूर्ण व्यवहार से छापा तिलक लगाकर लोगों को ठगने से, मूर्ख बनाने से अपना अहित होता है। तत्तकालीन समाज की कुरीतियों का आभास उनके विचारो से अवगत होता है। स्नान भर कर लेने से आत्मोत्थान नही होता है। साधन भजन अन्तरात्मा की चीज है- इसके द्वारा मनः शुद्धि करना ही असल धर्म और कर्तव्य है। तत्कालीन समाज में अपना निजी धर्म और कर्तव्य छोड़कर ब्राहमण-काजी, और उच्च वर्ग के लोग असामाजिक कार्य में लगें रहते थे। और जनता पर नानाप्रकार के अत्याचार किया करते थे। इन सब दुर्गुणों और आडम्बरो का पर्दाफास कबीर ने बहुत नुकीले ढंग से किया है।

"आदर्शवादी व्यक्ति स्वभाव का अति प्रखर होता हैं, क्योंकि वह दूसरे को भी आचरण की त्रुटि को सहन नहीं करता। कथनी और करनी का तनिक सा अन्तर भी उसे उदीप्त कर देता है।"[3] कबीर के साथ यही बात थी। तर्क में कबीर से कोई जीत नहीं सकता। कबीर का सारा ज्ञान अनुभव का था। जो चीजें प्रत्यक्ष वे देखते थे उसे बेह्चिक प्रकट कर देते थे। समाज के मान्य लोगों को यह बात ठीक नहीं लगती थी। अतः कबीर के विरुद्ध एक वृहत् जन समुदाय उठ खड़ा हुआ, जिसका विरोध कबीर ने खुलकर किया और ऐलान किया कि सारा जग और उसके लोक-व्यवहार सब आत्म

अनुभव के अभाव में नगणय है। असल चीज आत्म ज्ञान है जिसकी प्राप्ति सदाचार, सत्वचन और सद्व्यवहार से ही सम्भव है।,

सामाजिक दुरावस्था देखकर कबीर दुखित थे। लोगों का मोह भंगकर वे सामाजिक उत्थान करना चाहते थे। अज्ञान की नींद में सोए हुए जनता में वे ज्ञान जागृत करने के अभिलाषी हैं। लेकिन सामाजिक स्थिति इतनी गिर चुकी है कि जनता पर कबीर के बातों कुछ भी असर नहीं होता उनका मन विक्षुब्ध हो उठता है। कड़े शब्दों द्वारा फटकारने के बाद कबीर उपाय बताते है। – कैसे तुम निर्मल बन सकते हो। अनुचित कर्म द्वारा तुममें जों अशुद्धि आ गई है– इससे छुटकारा पाने के लिए ईश्वर की ओर से जो भक्ति की निर्मल धारा चल रही है– उसमें स्नान करके अपने को निर्मल बना लो।

कबीर हार मानने को तैयार नहीं हैं प्रतीत होता है जैसे उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का संकल्प ले लिया है। वे चाहते थे एक आदर्श समाज की स्थापना जिसमें सभी प्राणी सुख शान्ति से जीवन बसर कर सकें इस कार्य की सफलता के लिए 'भक्ति' ही एक मात्र अस्त्र है जिसका व्यवहार वे बारंबार करते हैं। क्योंकि मन के निर्मल होंने पर ही सामाजिक सुधार सम्भव है। अतः मन की मलिनता और भेदभाव के आडम्बर एवं भेद–भाव दूर करने का उपाय कबीर के अनुसार भगवान का सुमिरन और ध्यान है इसी रामनाम का रट लगाने से मन की कलुषिता मिट सकती है।

माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहि,

एक दिन ऐसा आएगा, मैं रौदूगी तोहि।

समाज में सबल द्वारा निर्बल पर अत्याचार किये जाने पर 'कबीर दास' चेतावनी देते हैं– कुम्हार माटी को रौंदता है, लेकिन एक दिन ऐसा होता है कि मृत्यु के पश्चात कुम्हार स्वयं मिट्टी में मिल जाता है। इसी प्रकार जो उच्चवर्ग के लोग आज समाज के कमजोर लोगों पर अत्याचार कर रहे हैं, वे एक दिन इस पाप के फलस्वरुप मिट्टी में मिल जाएंगे। "कबीर ने जो चेतावनियाँ दी हैं, वे समाज के लिए सदैव कल्याणकारी है।"[4]

"निर्बल कोने सताइए, जिसकी माटी हाय,
बिन जिव के स्वास से, लौह भस्म हो जाय।

गरीब लोगों पर कभी अत्याचार नहीं करना चाहिए। कबीर काल में भी गरीब लोगों को तरह–तरह से उत्पीड़ित किया जाता था। कबीर का कथन है कि मरे जीव की खाल से बने यंत्र से लोहा भस्म हो जाता है– इसी प्रकार गरीब और निर्बल की आह से शोषण कर्ता का नुकसान और पतन हो सकता है।

कबीर दास की इस प्रकार की रचनाओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वे मानवता की अद्वैव भूमि के समर्थक थे और इसके लिए उन्होंने प्रत्येक संभव प्रयास भी किया। "कबीर को हिन्दी का पहला व्यंग लेखक कहा गया है। वे हिन्दी के पहले विध्वंस विशेषज्ञ है।"[5] आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी ऐसे ही युग पुरुष की आवश्यकता है जो आज के समाज में व्याप्त अनाचार, अत्याचार और भेदभाव को अपने तेजस्वी व्यक्तित्व से निर्मूल कर दे। यह काम कबीर–साहित्य के व्यापक प्रचार से ही संभव है। "मस्ती फक्कड़ाना

स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।"[6]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ० रांगेयराघव, भारती संत परमपरा और समाज, पृ०-107
2. कबीर ग्रन्थावली, पद 150, पृ०-140
3. किरण नन्दा, संत काल में विद्रोह का स्वर, पृ०-7
4. डॉ० श्याम नन्द किशोर, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-18
5. कान्ति कुमार, कबीर दास, पृ०-85
6. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०-185

राजनैतिक परिस्थिति

पन्द्रहवीं सदी के जिस राजनीतिक परिवेश में कबीर का जन्म हुआ था। राज सत्ता शासक की व्यक्तिगत शक्ति और योग्यता पर निर्भर थी। नियम और संविधान जैसी कोई चीज नही थी। कोई भी महत्वाकांक्षी सरदार अपनी शक्ति के बल पर राज्य कायम कर सकता था। जैसा कि इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुसलमानों में सुल्तान होने के लिए अभिजात्य आवश्यक नही था। जबकि इसके विरूद्ध हिन्दु राजाओं मे यह भावना प्रवल विद्यमान थी। अर्थात जो जन्म से ही उच्च कुल में उत्पन्न हुआ है वही सर्वोच्च सत्ता पाने का हकदार है। यही भावना आगे चलकर समाज को वर्गो में खण्डित करने में अहम भूमिका निभाई थी।

इतना ही नहीं सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना का अभाव सा था। राज सत्ता के परिवर्तन से उसकी आर्थिक सामाजिक स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन संभव नही था। इसलिए वह प्रायः उदासीन रहती थी। प्रजा के आर्थिक उन्नति के लिए शासको की ओर से कोई प्रयत्न नही किया जाता था। जैसा कि ज्ञात हो गया था कि शासन के मुख्यतः दो ही कार्य थे। शांति कायम रखना और राजस्व वसूल करना। इसीलिए शासकों को जनता का समर्थन नहीं मिल पाया था। मुस्लमानों को अभी तक विदेशी ही समझा जाता था। राजपूत और हिन्दु सामन्त उन्हें बराबर चुनौती देते रहते थे। निरन्तर जिससे युद्ध का वातावरण बना रहता था।

ऐसे वातावरण में सामान्य जनता जो निरीह एवं दीन-हीन अवस्था में थी, आर्थिक समृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती थी। किन्तु इस अवधि मे भारत में आने वाले सभी विदेशी यात्रियों मार्कों पोलों, इबनबबूता और माहुआ ने इसकी समृद्धि का उल्लेख किया है। ऐसा विदित होता है कि ये यात्री भारतीय समाज और राजनीति की ओर ध्यान न देकर केवल भारत के आर्थिक समृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया है। जो उस समय के समृद्धि का उल्लेख किये है ।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में शासक वर्ग का रवैया आतंक पूर्ण रहता था। लूटपाट और हत्या मामूली बात थीं। इन राजाओं की गलत और दोषपूर्ण नीति के कारण देश जर्जर हो रहा था और प्रजा असह्य कष्ट उठा रही थी। राज नेता धर्म की आड़ मे अत्याचार करते थे। ऐसे शासक से देश से देश के कल्याण की कोई बात ही नही हो सकती थी।

"धर्मार्थ शासक एवं संकीर्ण मनोवृत्ति के धार्मिक नेता की स्वार्थ पूर्ण नीति के कारण निरीह जनता दिशाहीनता की स्थिति में संकट झेलने को विवश थी। मनुष्य-मनुष्य से अलग हटता जा रहा था और परस्पर की भेदक रेखाएँ राजनैतिक स्वार्थो के कारण इतनी लंबी होती जा रही थी कि आदमी-आदमी का दुश्मन बन गया था।"[1] 'कबीर ने इस विषम परिस्थिति से जनता को उबारने के हेतु जेहाद छेड़ दिया था। एक क्रान्तिकारी नेता के रूप में कबीर उभर कर समाज स्तर पर अपनी आवाज बुलन्द करने लगे। काजी, मुल्ला को

धिक्कारते हुए शासकों पर भी उन्होंने अपना विरोध प्रकट किया जिसके फलस्वरूप कबीर को राजद्रोह करने का आरोप लगाकर तरह–तरह से प्रताड़ित किया गया।

तत्कालीन राजनीति को बहुत अंश तक मुल्ला और पुजारी प्रेरित करते थे। हिन्दु और मुसलमानों के भीतर भी निरन्तर ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला था। "उस समय बौद्ध धर्म का ह्रास शुरू हो गया था और जैन, शैव एवं वैष्णव धर्मों के भीतर कई शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही थी। नाथपंथी सम्प्रदाय भी उस समय अपनी आवाज उठा रहा था। और योगी, सन्यासी मुल्ला, शाक्त सब आपसी झगड़े और पारस्परिक संघर्ष में व्यस्त थे।"[2] "उस जमाने की पूरी व्यवस्था एक विशेष तरह के मोर्चे के साथ जन शोषण कर रही थी। जन शोषण के लिए शक्तिशाली लोगों ने कानून से भी बड़ा कानून बना रखा था, जिसे धर्म कहा जाता था। धर्म की आड़ में खड़े हो जाने के कारण शोषक वर्ग अपनी चालाकी को दैवी विधान से जोड़ देता था।"[3]

राजनैतिक अराजकता और घोर अन्याय देखकर कबीर का हृदय वेदना से द्रवित हो उठता है। अत्याचार का विरोध करने को वे तत्पर हो जाते है– "बादशाह तुम्हारा वेश क्या है और तुम्हारा मूल्य क्या है? तुम्हारी गति क्या है? किस सूरत को तुम सलाम करते हो?"[4] नियमानुसार शासन तंत्र के कुछ वैधानिक नियम होते है जिनके अनुसार सरकारी कार्यों का संपादन होता है। लेकिन कबीर के युग में ऐसा कोई नियम नहीं था। धार्मिक कट्टरता के अन्तर्गत

मनमाने रूप से शासन तन्त्र चल रहा था जिससे जनता का शोषण बुरी तरह हो रहा था। कबीर के लिए स्थिति असहनीय हो रही थी।

तत्कालीन राजनैतिक उच्छृखलता देखकर कबीर शासक वर्ग को सावधान करते है। सृष्टि के नियमानुसार आदिकाल से परिवर्तन होता आया है। राजा हमेशा बदलता रहता है। एक की तू ती स्थायी नहीं हो पाती । मरण को स्वीकार करना ही पड़ता है, अतः राजभोग प्राप्त कर गर्व नहीं करना चाहिए, अत्याचार नहीं करना चाहिए। यह बात हमेशा याद रखने की है कि एक दिन यह सब राजपाट छोड़कर यहाँ से प्रस्थान करना होगा। कबीर का अनुमान है कि मृत्यु भय से शासक वर्ग के चरित्र में अपेक्षित सुधार होगा और वे अत्याचार त्याग कर मानवता वादी व्यवहार अपनी प्रजा के साथ करेंगे।

आए है सो जाएँगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बंधे जंजीर।।

कबीर शासक वर्ग से अपेक्षित सुधार लाने के इच्छुक हैं ताकि शोषण बंद हो। मृत्यु के सम्मुख राजा रंक और फकीर में कुछ भेदभाव नहीं है। सभी को एक दिन मरना पड़ेगा। लेकिन मरने मरने में भी फर्क है। शासक वर्ग राजा अगर कमजोर वर्ग पर अत्याचार करता है, उनका शोषण करता है। तब इस पाप के फलस्वरूप निःसन्देह उसकी गति निम्न कोटि की होगी उसे उनके लिए पुष्प विमान आएगा। "कबीर मूलतः अध्यात्मवादी हैं। उनका अस्त्र अध्यात्म है और इसी अस्त्र द्वारा वे अपनी काव्य शैली निर्मित की

जो संबोधनों, सूक्तियों और आत्मसाक्षात्कार से जुड़ी है।"[5]

"आँखें खोलकर चलना कबीर को पसन्द था और वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार अपनी आँखों से करे।"[6] तत्कालीन प्रपंच साधना से कबीर अनाभिज्ञ नहीं थे। इससे निरीह और–अबोध जनता को बराबर धोखा खाने की संभावना बनी रहती थी। अतः कबीर ने ऐसे प्रपंची लोगों से बचते रहने के लिए सावधान किया है। ऐसे पाखंडी लोगो द्वारा ही संसार में अराजकता का वातावरण बनता है। धर्म के नाम पर मनुष्य और मनुष्य के बीच गहरी खाई खोदनें वाले से उन्हें सख्त नफरत थी। "उस जमाने में धर्म ही कानून था और धर्म के आधार पर ही सारे स्वत्व प्राप्त किये जाते थे। कबीर ने ऐसे शोषक संगठ्नों के पक्षधरों को निर्भयता से अस्वीकार कर दिया।"[7]

कबीर जिस युग की उपज थे, वह धर्म प्रधान युग था और उस युग की मानव चेतना धर्म की व्यवस्था में सांस ले रही थी। यद्यपि यह धर्म व्यवस्था धर्म की आड़ में अत्याचार कर रही थी। अन्याय और अत्याचार की अधिकता से सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था। कबीर ऐसी विषम और दोषपूर्ण राजनैतिक वातावरण से जनता को मुक्त कराने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। उनका प्रयत्न सरहानीय है। ऐसे पाखंडी लोगों का वे पर्दाफास करते हैं।

परिणाम स्वरूप जब बनारस की महिमां की याद दिलाकर उन्हें छोटा साबित करने का प्रयत्न किया गया तब वृद्धावस्था के बावजूद उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया।

शायद उन्हें आभास लगा हो कि वे जन शिक्षण का कार्य पूरा कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने बड़े स्वाभिमान के साथ....."जो कबीरा काशी मरे, रामहि कौन निहोरा" कहते हुए बनारस की सारी तीर्थ गरिमा के समानान्तर उजाड़ वीरान मगहर में एक नया तीर्थ खड़ा कर दिया ।"[8] इस तरह बिषम परिस्थिति में 'एकै जनी जन संसार' कहकर कबीर ने मानव मात्र में एकता का प्रतिपादन किया तथा एक ऐसी समझदारी पैदा करने की चेष्टा की कि लोग अपने उत्स को पहचान कर वैषम्य की पीड़ा से मुक्त हो सके और मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रेम कर सके।

आधुनिक संदर्भ में राजनैतिक स्थिति में अपेक्षा कृत सुधार लाने हेतु उत्पन्न अस्थिरता को दूर करने निमित्त कबीर साहित्य से बढ़कर और कोई दूसरा साधन आज नहीं है। "कबीर आज होते तो निर्भीक रूप से राजनैतिक दलों एवं व्यक्तियों से उनका कड़ा विरोध रहता, क्योंकि आज भी संर्दभ भेद से उन्हें वही दिखाई देता।"[9]कबीर साहित्य का आधार नीति सत्य है, और इसी आधार पर निर्मित राजसत्ता से राष्ट्र की प्रगति और जनता की खुशहाली संभव है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ० त्रिभुवन सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-136
2. डॉ० सरनाम सिंह, कबीर एक विवेचन, पृ०-109
3. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-2
4. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-11
5. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-3
6. डॉ० हृदय पाल सिंह तोमर, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-126
7. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-14
8. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-5
9. डॉ शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ०-15

साहित्यिक परिस्थिति:—

साहित्यिक परिप्रेक्ष से कबीर साहित्य का विशेष महत्व है क्योंकि निजी अनुभव से प्राप्त ज्ञान पर आधारित है। तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं साम्प्रदायिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर जन कल्याण की भावना से उनके मुख से जो उद्‌गार, सीख, उपदेश या चेतावनी निकली, वही कबीर साहित्य के नाम से प्रचलित है। कबीर ने जो कुछ भी कहा, वह समाज के कल्याण के लिए, देश की प्रगति के लिए और मानव जाति की भलाई के लिए। अनेक साहित्यकारों ने उन पर अक्खड़, फक्कड़ या मस्त मौला होने का दोष रोपण किया है, लेकिन निष्पक्ष रूप से देखने पर आज यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है कि कबीर जैसा जनता का शुभचिन्तक, निःस्वार्थ भाव से लोक मंगल के चिंतन में संलग्न मानव का मिलना दुर्लभ है। अध्ययन से पता चलता है कि गाँधी जी भी कबीर से प्रभावित थे, और रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी कबीर के एक सौ पदों की आवृत्ति की आवश्यकता महसूस की थी।

कबीर साहित्य में मुख्यतः दो प्रकार की भावनाओं की बहुलता है जो कबीर के निजी अनुभव के आधार पर भोगी गई भावनाएँ है। इनमें सत्य का पुट है जिससे उनकी वाणी में एक शक्ति का समावेश हो गया है। उन्होंने जो कुछ भी कहा, वही पूरी ताकत के साथ। अपने जीवन काल में तथा अपनी साधनावस्था में उन्होंने जो कुछ अनुभव किया, उसे अपनी भाषा में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त

किया, लोगों को समझाया तथा उन्हें सात्वना दी। सत्य और आचरण की पवित्रता के कारण सतोगुण की पराकाष्ठा पर पहुँच कर कबीर ने जो शान्ति और आनन्द प्राप्त किया, उसे वे जन साधारण के बीच वितरित करने का प्रयास करते नजर आते है। इसका कारण यह है कि सर्वसाधारण की दीन-हीन दयनीय अवस्था देखकर वे अत्यन्त द्रवित थे। अनाचार और अत्याचार देखकर वे दुःखी थे और चाहते थे। कि इन सब विकारों से समाज एकदम मुक्त हो जाए ताकि जनता को सुख-शान्ति की वैभव उपलब्धि हो सके।

अध्यात्मिक क्षेत्र को कबीर ने नीरस और कष्ट साध्य न बताकर, सहज, सुलभ और सब लोगों के लिए प्राप्य बना दिया। साधना के लिए न कहीं जाने की जरूरत है, न कुछ तैयारी की। घर में ही रहकर यह साधना की जा सकती है और इसमें सफलता भी मिल सकती हैं, आवश्यकता है केवल चित्त शुद्धि और शुद्ध आचरण की।

'घर में जोग, भोग घर ही में
घर तजि वन नहिं जावे।।'

कबीर के कहने तात्पर्य है कि जीवन के सुख-दुःख से बँधे रह कर भी हम निर्लिप्त भाव से रह सकते हैं। अनुभव द्वारा उन्होंने साधन मार्ग का आकर्षण भी दिखलाया है। वे सहजयोग के साधक थे और चाहते थे कि गृहस्थी के भार से युक्त मानव भी सत्संग का लाभ उठावे और सहजयोग के अभ्यास द्वारा सुख-शान्ति और आनन्द की प्राप्ति करे। व्यक्ति के बाद कबीर का ध्यान जिस पर

गया वह है समाज का क्षेत्र। समाज में व्याप्त आडंम्बरो को समाप्त करने के लिए भी कबीर को कठोर प्रहार करना पड़ा। उनकी सशक्त वाणी इस क्षेत्र में भी पूर्ण सफर रही । कुछ महापुरूष ऐसे भी हुए भी कुछ हैं और होते हैं जिनकी उपादेयता भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में प्रेरणादायक होती है। सद्‌गुरू कबीर उन्ही महापुरूषों में हैं जो सर्वागीन, ˙सर्वयुगीन तथा परमोपयोगी है।

आज के परिप्रेक्ष्य में उनके विचारों की उपादेयता एवं उपयोगिता बढ़ गई है। वर्तमान काल की भाँति ही सद्‌गुरू कबीर के काल में भी विषमता व्याप्त थी। जाति का भयंकरता, राजनैतिक तथा आर्थिक भंयकरता धर्म की भी जो समाज को पंगु बनाए हुए थी। धनी–गरीब के बीच आकाश पृथ्वी की दूरी बनी हुई थी। तत्कालीन समाज प्रचंड विषमता की ज्वाला में दग्ध हो रहा था जिसे देखकर कबर आन्दोलित हो उठे। सर्वत्र अराजकता का बोल–बाला था। जनता त्राहि–त्राहि कर रही थी। राजाओं का अत्याचार बढ़ा हुआ था। वे सिंहासन पर बैढने के लिए नरसंहार रत थे।

"संत कबीर के अनेक रूप रहे है–भक्त का, सिद्धान्त प्रतिपादक का, निर्गुणवादी का हठ्योगी का भगवत् प्रमी का और समाज सुधारक का। प्रायः सभी संतों ने प्रेम, भक्ति, सत्य पालन, अहिंसा आदि का आवाहन किया है। पर कबीर ने आग्रह पूर्वक ढोंग को तजने, भेद–भाव मिटाने तथा कर्मकांड से बाहर आने को कहा है। वे जीवन एवं धर्म, आचरण एवं उपदेश की जोड़ी को तोड़ने नहीं।"[1] ''कबीर ने जो चेतावनियाँ दी है, वह समाज के लिए सदैव

कल्याणकारी है। कल भी थी और आज भी हैं। उन्होनें जो आलोचना की हैं, वह व्यक्ति गत की प्रतिक्रिया नहीं है। उन आलोचनाओं का उद्देश्य जन-समाज की आँखो पर से मोह के पर्दे का हटाना है जो सत्य के वास्तविक रूप को ढक रखा था।"[2]

कबीर की साखी में जो संदेश है, वह स्मरणीय ही नहीं है, बल्कि मानव जीवन के लिए उपयोगी और बहुमूल्य है। सच्चा प्रेम निःस्वार्थ प्रेम और भक्ति अपने में अनमोल वस्तु है जिसे प्राप्त कर मानव जीवन धन्य हो उठता है। इनकी प्राप्ति कोई भी मनुष्य लगन और अध्ययन के द्वारा कर सकता है। जिन लोगों ने लगन से खोजा, उन्हें इसकी प्राप्ति हुई, कबीर अपने अनुभव जन्य ज्ञान के माध्यम से यह प्रकट करना चाहते है कि प्रकट रूप में जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है, उसका महत्व गौण है। असल चीज आध्यात्मिक अनुभव है जो वास्तविक सुख और शान्ति प्रदान करता है। लेकिन कठिनाई यह है कि इन बातों पर अनुभवहीन मनुष्य विश्वास नहीं करेगा।

"आज प्रत्येक धार्मिक नेता एकता की बात तो करता है लेकिन वह कबीर की तरह खुलकर धर्मो की आलोचना नहीं कर सकता, क्योंकि इसके लिए शुद्ध आंतरिक शक्ति और अदम्य साहस की आवश्यकता है, जो कबीरन जैसे साधक को ही प्राप्त हो सकता हैं।"[3] जिसने हिन्दू और मुसलमान दोनों की दुर्बलताओं पर करारे व्यंग किए है। हिन्दू-मुसलमान की एकता में जो तत्व सबसे अधिक बाधक है। वह यह है कि ईश्वर एक ही है, उसके नाम अलग-अलग

हैं। कबीर ने स्पष्ट संकेत दिया है-

हिन्दू कहै मोहे राम पियारा,
तुरूक कहै रहिमाना।
आपस में छोड लटि-लटि मुए,
मरम न काहू जाना ।।

इस मर्म को समझने के लिए कर्म की पवित्रता आति आवश्यक है। जिसका अभाव कबीर के समय में था और आज भी है। सर्वप्रथम निःस्वार्थ भाव से कार्य और सेवा करने की लगन चाहिए। इसके आभाव का कोई महत्व, कोई मूल्य नहीं रह जाता। उनकी वाणी भी निरर्थक जाती है। कविता की यह विशेषता है कि जो कविता सीधे हृदय से निकलती हे, वह सीधे हृदय पर चोट करती हैं। उनके हृदय में सच्चाई थी और आत्मा में बल। इसलिए उनकी वाणी में शक्ति आ गई थी जो पाठक के हृदय को प्रभावित करती है। ''इसलिए कबीर की प्रासंगिकता आज विशेष रूप से लक्षित होती है क्योंकि आज जो भी ढोंग है, कर्मकांड है, अस्पृश्यता है। कबीर की चोट उन्हीं दुर्गुणों पर है, किसी व्यक्ति या वर्ग पर नही।''[4]

वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए आज अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। अपना हृदय उदार और विशाल बनाना होगाा। निः स्वार्थ भाव से सेवा धर्म निभाना होगा। सभी राम की शरण में आजाएँ, यही कबीर की पुकार है। वे भक्ति का रसायन पिए हुए थे, और चाहते थे कि इस रसायन का आस्वादन सभी कर सकें । अगर मनुष्य जागरूक है, जिज्ञासु है तो अपना विवेक, ज्ञान

बढ़ाकर सत्संग का लाभ उठाकर और राम की भक्ति कर अपना मानव जीवन सफल और सार्थक कर सकता है। कबीर जनता को हतोत्साहित नही करते, बल्कि उत्साह दिलाते हैं और वह सूत्र बतलाते हैं जिसका आश्रय लेकर सर्व साधारण लाभ उठा सकता हैं एकता और प्रेम पर कबीरने अत्यधिक बल दिया है।

यदि कोई प्रेम का महत्व नहीं समझा और जीवन में उसे नही अपनाया तो सारा ज्ञान व्यर्थ है। यह बात सर्वमान्य है कि प्रेम बॉटने से घटता नहीं है, बल्कि उसका भडाँर और व्यापक हो जाता है। इस प्रेमको यदि मानव स्वधर्म बना ले तो वैमनस्य की समस्या का समाधान हो सकता है जिसके फलस्वरूप हम भी सुखी हो सकते हैं और समाज को भी सुखी बना सकते हैं।

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।

राजा–परजा जेहि रूचै, सीस देई ले जाय।।

कबीर ने जो कुछ कहा है वह शाश्वत सत्य के आधार पर जिसका मूल्य और महत्व कभी घटने को नहीं बल्कि इसकी आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। डॉ0हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''हिन्दी साहित्य के हजार वर्षो के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन नही हुआ। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता।''[5] "अमूल्य धरोहर के रूप में कबीर साहितय सर्व काल के लिस समाज और मानव का पथ–पदर्शक करता रहेगा।"[6]

तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और सम्प्रदायिक व्यवस्था को देखकर कबीर हतप्रभ रह जाते हैं। वे स्थिति में आमूल

परिवर्तन लाना चाहते हैं लेकिन उनकी बातें सुनने और मानने को कोई उत्सुक नजर नहीं आता। "कबीर ने अपने जीवन के निजी अनुभवों से जो कुछ सीखा था उसके आलोक में सारा का सारा संसार ही उन्हे भ्रमित हुआ लगता है। उनके पास ज्ञान भी था और आँखें भी, फिर किसी की अंध भक्ति को कैसे स्वीकार करते?"[7] "साधू जाति से नहीं ज्ञान से पूजनीय बनता है। जो भक्त है वह यदि अस्पृश्य है तब भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है। इस प्रकार वर्णाश्रम की अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर उन्होनें भक्ति के हथियार से प्रहार किया।"[8]

जातिन पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।

मोल करो तलवार का, पड़ा रहने दो म्यान।।

कबीर इस बात के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे कि दुखी असहाय और पीड़ित जनता के बीच सुख-शान्ति का प्रसार हो एवं उनका जीवन सुरक्षित और आन्दमय हो। तत्कालन विषम परिस्थिति को देखते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि भक्ति के मार्ग पर मोड़कर ही जनता को खुशी प्रदान की जा सकती हैं। उन्होंने अन्ततः इसी अस्त्र का सहारा लिया। कबीर जनजीवन के बीच सान्त्वना दे रहे हैं। वे सुखी जीवन जीने की कला बता रहें हैं। कबीर के पास यही ज्ञान है और इसी ज्ञान के द्वारा वे जनजीवन में हरियाली लाने का प्रयास करते हैं।

कबीर कहते हैं मेरी बातों को ध्यान से सुनो और उस पर चिन्तन करो। अगर तुम अपनी भलाई याहते हो तो मेरी राय पर चलों। सर्व प्रथम तुम अपने को स्थिर करो, अपने को पहचानों और

आन्न्द में रहने का प्रयत्न करो, अपने में अवस्थित होने पर मन में शान्ति का आना स्वयं प्रारम्भ हो जाता हैं कबीर का संकेत इसी ओर है। मन के सार विकारों को दूर कर शान्त स्थिर चित्त से बैठो अर्थात अर्थ की चिन्ता मत करो। कबीर मानवतावादी हैं, मानव के सच्चे शुभचिंतक हैं।

कबीर व्यावहारिक हैं। उनका सब सुझाव सीधा और अनुकरणीय है। सबसे पहली बात है अपने को सांसारिक प्रपंच से हटाकर अर्न्तमुखी होने का प्रयास करना दूर की बात सोचना ही व्यर्थ है। अपनी समीपता में ही सुख का वास है। कबीर कहते हैं कि मैंने अनुभव करके देख लिया है और मुझे सुख शान्ति मिल चुकी है। इस उक्ति से अब मैं दुःख से मुक्त हो चुका हूँ। जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में रहता है लेकिन मृग अज्ञान वश इसे जंगल में खोजता फिरता है। इसी तरह सर्व शक्तिमान भगवान और आनन्द मनुष्य के अपने अन्तर ह्रदय में ही अवस्थित है लेकिन अज्ञान मानव सुख–शान्ति की तलाश में बाहर घूमता रहता है जो कि व्यर्थ है। कबीर भक्ति का आकर्षण दिखाकर लोगों के ह्रदय में शान्ति का संचार करना चाहते हैं।

कस्तुरी कुंडल वसै, मृग ढूंढे वन माहिं,
ऐसे घर–घर राम हैं, दुनियां देखे नाहिं।

परमात्मा का निवास अपने निकट ही है, अतः घबराने की जरूरत नहीं है। आवश्यकता है सिर्फ मन को जगाकर परमात्मा में लगाने की। हमें दौड़कर भगवान का चरण पकड़ लेना चाहिए सिर के पास

ही भगवान खड़े है। कबीर जनता में भगवत् विश्वास रोपने के प्रयास में हैं। आस्था और विश्वास में बहुत बल है। निर्बल जनता के बीच इसी भक्ति का बीजा रोपण करने का प्रयास कबीर ने किया हैं।

इस संसार में दुःख के साथ-साथ सुख भी है। भक्ति सागर में गोता लगाकर, सुख शन्ति रूपी मोती की प्राप्ति की जा सकती है। कबीर चेतावनी देते है कि इस संसार में आकर अपना जीवन व्यर्थ मत जाने दो राम रस पीकर अपने को तृप्त कर लो। कबीर थोड़ा आक्रोश में आकर कहते है- अब भी संभल जाओ, होश में आओं और भक्ति में लग जाओ। सिर्फ यही एक कल्याण का मार्ग है। ''संत कबीर के मत से प्रत्येक प्राणी का जीवन लक्ष्य प्रभु प्राप्ति होना चाहिए और जब तक ईश्वर का साक्षात्कार न हो जाए तब तक कहीं भी ठहरना नहीं चाहिए।''[9] यह संसार हम सभों के लिए स्थायी निवास स्थान नहीं है। यहाँ से प्रत्येक मानव को एक दिन जाना ही पड़ता हैं। इस अवधि का सदुपयोग इश स्मरण में करना चाहिए। सांसारिक-विवाद को विशेष महत्व नहीं देना चाहिए।

''कबीर ने समाज की दुर्बलता और अधोगति को बड़ी करूणा से देखकर उसे ऊपर उठाने के मौलिक प्रयत्न किए। भय, भर्त्सना और भक्ति उनके ऐसे अस्त्र थे, जिनसे वे राजनैतिक विभीषिकाओं और सामाजिक विषमताओं के शत्रु को परास्त करना चाहते थे।''[10] इन शत्रुओं के विनाश होने पर ही जनता को त्राण मिल सकता है। यह बात कबीर अच्छी तरह समझते थे। अतः उनका सारा विरोध असत्य, हिसां और दुराग्रह से है। उनका प्रयत्न यही है कि

किसी तरह जनता को त्राण मिले, भय से मुक्ति मिले। "कबीर का लक्ष्य संयत एवं संतुलित जीवन में निराश का संचार करना नहीं था, अपितु जीवन के प्रति आशा पैदा करना था।"[11] कबीर का कथन है कि जो सत्यवादी है, उसका तो भला होता ही है इसके साथ ही उसका पूरा परिवार सुख पाता है। कबीर का यह संदेश सर्वकाल के लिए शिक्षा प्रद है। सारे अनर्थो की जड़ असत्य और अन्याय है इनका निर्मूल होन पर ही शुभ की कल्पना की जा सकती है।

केवल सत्य विचारा, जिनका सदा अहार,

कहे कबीर सुनो भई साधो, तर सहित परिवार।

कबीर को गुरू पर अखंड विश्वास है। उनकी मान्यता है कि सद्‌गुरू का आशा करके, उन पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। यह साधन सब तरह से लाभ दायक है, अतः प्रत्येक मानव को साधन का दास बन जाना चाहिए। अर्थात् नित्यप्रति गुरू भक्ति और साधन का अभ्यास करनाा चाहिए। इस सत्य की प्राप्ति से सब अवरोध समाप्त हो जाते हैं। जिस साधन से कबीर को शान्ति लाभ हुआ था, उनके संतापों का निवारण हुआ था उसी उक्ति को वे उजागर कर रहे है। ताकि सब कोई इससे लाभान्वित हो सके।

गुरू के बताए साधन पर चलकर ध्यान का अभ्यास करो। इससे दुःखों का अन्त होगा और अन्तर प्रकाश मिलेगा—भीतर का हृदयकाश का सुन्दर नजारा देखने को मिलेगा। गुरू भक्ति रखकर, साधन पथ पर चलने वाले सभी संतो को आंतरिक अनुभूति होती है जिसका वर्णन प्रायः सभी संतों ने अपने काव्य में किया हैं

कबीर को ऐसे लोगों पर क्रोध आता है जो उनकी बातों पर अविश्वास करते है। कबीर किसी भी स्थिती में हार मानने को तैयार नहीं है। उन्हें गलत लोगों को ठीक रास्ते पर लाना ही है, अगर इसके लिए दो–चार धक्के भी देने पड़े, तो इसके के लिए वे तैयार हैं। इस अर्थ में कबीर एक लौह पुरुष हैं।

"कबीर ने भरतीय जनता को निराशा और हताशा के बदले एक संकल्प और शक्ति दी।"[12] उन्होंने घर पर ही रहकर साध ना करने की बात कहकर इस धारणा को दृढ़ बनाया कि यह काम कठिन नहीं, बल्कि आसान है और सब कोई यह कर सकता है। साधना के प्रति लोगों के ह्दय में आकर्षण भावलाने के हेतु उन्होंने अपना अनुभव बताया।

कबीर साहित्य में संसार की असारता के सम्बन्ध में अवश्य प्रचुर सामग्री मिलती है लेकिन उन्होंने जीवन के प्रति सर्वथा आस्थ विश्वास और स्फूर्ति दिलाने की चेष्टा की है। साथ ही आनन्दमग्न होकर जीने की कला भी बताई है। उनका मुख्य स्वर है "जीवन में प्रभु को मुख्य स्थान देना" ईश्वर का ही दूसरा नाम प्रेम है। इसी प्रेम तत्व को अपनाने पर जीवन की बहुत सी समस्याएँ स्वतः सुलझ जाती हैं। जीवन जितना उलझा नही हैं उतना लोग अपनी गलत नीति के कारण उलझा देते हैं। कबीर सर्वदा सीधे ढंग से जीवन जीने की कला बताते हैं, लेकिन प्रेम के अभाव में यह जीवन नारकीय बन जाता है।

कबीरा प्याला प्रेम का अंतर दिया लगाय,

रोम–रोम में रमि रस्या और अमल क्या खाय,

कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आई,

अतरि भीगी आत्मा, हरी भई बन आई।"

यही 'प्रेम' सब कुछ है, जिसे पान कर कबीर धन्य हो गये। इस बादल रूपी प्रेम की वर्षा में स्नान कर कबीर की आत्मा तृप्त हो गई और उनका मन आनन्द विभोर हो उठा। "कबीर की दृष्टि में प्रेम ही सर्वस्व है। उसी के आधार पर व्यक्ति एक दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना को जागृत कर सकता है।"[13] 'बंधुत्व' की भावना के प्रचार हेतु कबीर साहित्य उपयुक्त साधन सिद्ध हो सकता है। आज इसी 'बंधुत्व' की भवना के प्रसार की नितान्त आवश्यकता है। ''कहते है कवि अमर होता है, क्योंकि उसकी वाणी युग–युग के लिए संदेश देती है। कबीर भी अमर हैं क्योंकि उनकी वाणी भी आज हमें संदेश दे रही है। वह हमें धर्म और समाज की एकता सिखला रही है और नीति का मार्ग प्रशस्त कर रही है।''[14]

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 लक्ष्मी नारायण भारती, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–107
2. डॉ0 शयाम नन्दन किशोर, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–115
3. राजेन्द्र किशोर, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–21
4. डॉ0 लक्ष्मी नारायण भारती, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–109
5. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर , पृ0–186
6. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर , पृ0–308
7. हृदय पाल सिंह तोमर, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–124
8. डॉ0 विजेन्द्र नारायण सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–196
9. डॉ0 प्रताप सिंह चौहान, कबीर साधना और साहित्य, पृ0–361
10. डॉ0 सरनाम सिंह, कबीर विमर्श, पृ0–146
11. डॉ0 सरनाम सिंह, कबीर विमर्श, पृ0–48
12. डॉ0 श्याम सुन्दर घोष, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–96
13. डॉ0 रेणुका सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0–206
14. डॉ0 सरनाम सिंह, कबीर विमर्श, पृ0–10

अध्यात्मिक परिस्थिति:-

कबीर दास की मूल प्रेरणा 'अध्यात्म' है। समाज-सुधार उसका सहज परिणाम है।। केवल जड़वादी दृष्टि से समाज-सुधार का नारा लगाना न तो कबीर के साथ न्याय है, न तो आज की भारत की जनता के साथ। भारत की तो परम्परा ही अध्यात्म-केन्द्रित है। यदि कोई कहे कि कबीर तो बहुत पुराने हो गये तो अभी हाल के महानतम समाज- शिल्पी महात्मा गाँधी क्या थें? उन्होंने भी 'अध्यात्म' और उसमें भी कबीर की भाँति ही 'राम' को केन्द्रित कर समाज और राजनीति को सच्ची दिशा दी। सत्य, अहिंसा और सद्गुण उनके आश्रय थे। उन्होंने न केवल भारत को अपितु सम्पूर्ण विश्व को झकझोर दिया। वे आज भी उतने सन्दर्भगत है, क्योंकि जनता केवल बाहर से नही, भौतिक अर्थो में ही नही, अन्दर से भी परिवर्तन चाहती है।

कबीर समाज सुधारक नहीं थे और न ऐसा कोई संकल्प लेकर ही वे आगे बढ़े, फिर भी उन्हें समाज सुधारक की पदवी मिल गयी। इसका श्रेय उन युगीन परिस्थितियों को है जिनके बीच कबीर जन्में और जिन्दा रहें। वे परिस्थतियाँ जीवन के सभी क्षेत्रो में भयावह, अवस्था, विषमता, और अंधश्रद्धा की परिस्थितियाँ थी। जिनको तोड़ने के लिए अपनी प्रखर वाणी में कबीर ने जो कुछ कहा वही उनके समाज सुधारक होने का प्रमाण बन गया।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है- "कबीर ने ऐसी

बहुत सी बाते कहीं हैं जिनसे समाज–सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उनको समाज–सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टिकृति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। भक्ति–तत्व की व्याख्या करते–करते उन्हें उन बाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरुरत महसूस हुई जो अपनी प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतना तत्व की उपलब्धि में बाधक है। यह बात ही समाज–सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गयी। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह बेवजह ही हैं।"[1]

कबीर ने इस्लाम में प्रचलित आडम्बर पूर्ण उपासना पद्धति को सत्य प्राप्ति के मार्ग में बाधक स्वीकार किया है। उनका कहना है कि 'बन्दा' खुदा नही हो सकता इसलिए उन्होंने समाज के सामने सत्य और असत्य को सामने उजागर करने का प्रयास किया। कबीर ने अपने वाणियो द्वारा अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है, जो इस्लाम की मूल धार्मिक भावनाओं से बिल्कुल भिन्न और विरोधी हैं। कबीर की साधना सम्बन्धी निर्भीक स्थापनाए न केवल मुसलमानों को चौकाने वाली थी, अपितु उन्हें भयंकर क्रोध से अभिभूत करने वाली भी थी। वे आवेश में आकर कबीर की हत्या भी कर सकते थे।

परन्तु कबीर सत्योद्गारो की अभिव्यक्ति से न तो आतंकित हुए और न भयाक्रान्त होकर सत्य भावना और सत्याग्रह में पाबंदी लगायी क्योंकि सत्य दर्शन से उन्हें–यह पूर्ण प्रतीति हो गयी थी, "मैन मरु मरि है संसारा, मोहि का मिला जीवन हारा।"[2]

इसीलिए पूर्ण निर्भय होकर उन्होंने मिथ्यचारी धर्म और अध्यात्म की प्रतिष्ठा करने वाले हिन्दू मुसलमानों के बाह्याडम्बर पर विरोध प्रकट किया। उन्हें तो जीवन प्रदान करने वाला ईश्वर मिल गया है, इसीलिए उन्हें मरने से कोइ डर नही है। ये हिन्दू और मुसलमान डरे, क्योंकि दोनो को अभी जीवन प्रदान करने वाला कोई भी प्राप्त नही हुआ है, इसीलिए उन्होंने समाज में दोनो पक्षो की कस कर खबर ली–

"अलह राम जिंऊ तेरे नाई।
बन्दे ऊपरि मिहर करैं मेरे सांई।।

प्रस्तुत पद में कबीर ने 'अल्लाह' और 'राम' दोनों को एक मानकर उनकी वन्दना की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अध्यात्म के उस चरम शिखर की अनुभूति कर ली थी, जहाँ सभी विरोध अविध तथा समस्त द्वैत, अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाते है, और दूसरी बात इससे यह सिद्ध होती है कि वे हिन्दु मुसलमान के जातीय और धार्मिक मतों के वैषम्य को मिटाकर उन्हें उस मानवीय अद्वैत धरातल पर प्रतिष्ठित करने में मानवता और अध्यात्म के एक महान नेता के समान प्रयत्नशील थे।

कबीर पूर्णतया समझते थे कि सत्य के साक्षात्कार द्वारा ही सभी वैषम्य नष्ट करके मानवता की एक समान भूमि निर्भित हो सकती है। तथा हिन्दू–मुसलमानों के मध्य निरन्तर विद्यमान कलह विद्वेष और सर्वाधिक एक दूसरे की हत्या के प्रयास तथा हत्यायें विराम प्राप्त कर सकती हैं। इसके लिए कबीर ने जो समस्या का

निदान ढूँढा, सर्वथा निरपेक्ष अभिनव और भौतिकता पर प्रतिष्ठित द्वैत की भूमिका के ऊपर आध्यात्मिक और अद्वैत था।

'अल्लाह' और 'राम' की इसी अद्वैव अभेद और अभिन्न भूमिका की अनुभूति के माध्यम से उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों, के गलत मार्ग पर-चलने के लिए वर्णित किया, कभी पुचकार, और कभी फटकार बतायी। हिन्दू-मुसलमान दोनों से उन्होंने, निर्भीक वाणी में कहा कि वे कर्मकाण्ड को लक्ष्य मानकर उसकी सिद्धि के लिए न तत्पर हों। कबीर के मत से दोनों ही इसमें अज्ञान का आश्रय लिए हुए हैं।

कबीर की कविता में एक ओर जहाँ हिन्दू धर्म के पाखडो के प्रतितीव्र विरोध की अभिव्यक्ति है, वही दूसरी ओर मुस्लिम संस्कृति की रुढ़ियों के प्रति धोर वितृष्णा भी और इस स्थिति में यह सहज ही प्रश्न उठता है कि कबीर का विकल्प क्या था? वे किसी दिशा को वर्णय मानते थे। वास्तव में कबीर तत्कालीन समाज को, लगातार टुटते मूल्यों के प्रति सचेत करना चाहते थे। इस स्थिति में किसी दिशा-निर्माण से पूर्व उसकी कमियों का आकलन आवश्यक था।

"कबीर के काल में साधारण जनता की स्थिति दयनीय हो रही थी। उनकी धारणा बन रही थी कि 'माया विकराल है' इससे छुटकारा पाना कठिन हैं। सिद्धि का मार्ग विघ्न शंकुल है, भवजाल विकट है। मायाचक्र अनन्त है।"[3] भक्त कबीर ने इन गृहस्थों को आश्वासन दिया, समझाया "कलियुग सब युगों से अच्छा हैं, क्योंकि

इसमें मानस-पाप का कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस पुण्य का फल पूरा मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है भय की कोई जरूरत नहीं है।"[4]

और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहे कबीर पुकारीकै, भक्ति करो तजि भ्रम।।

अर्थात निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति करो। सब प्रकार के भ्रम का परित्याग करो और राम नाम का सुमिरण करो, जिससे सब भवसागर से पार हो सकते है। इस मानव शरीर का क्या भरोसा ? एक दिन इसका जाना अनिवार्य है। इस नष्ट होते शरीर को अगर बचाना है तो इसका सार्थक उपयोग करो। किसी गुरू की शरण में जाओ, जो कि सब तरफ से चोट खाता है, इससे उबरने का एक मात्र उपाय राम नाम का सहारा लेना है। 'जीवन दर्शन' के बारे में सर्वप्रथम कबीर कहते हैं- "संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करना सर्वोत्कृष्ट है। इसके लिए सबसे पहले उन्होंने गुरू की शरण में जाने की बात कही है।"[5]

"कबीर से पूर्व ही भारत में गुरू की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। सिद्धों ने गुरू के महत्व को बढ़ाने में विशेष योग दिया। उनके सम्प्रदाय में साधना विशेष महत्व रखती थी और यह गुरू के अभाव में हो ही नहीं सकती थी। कबीर ने इसी परम्परा को मुखर करते हुए गुरू को गोविन्द से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया।"[6]

गुरू गोविन्द दोनो खड़े, काके लागू पांव।
बलिहारी व गुरू की, जिन गोविन्द दिया दिखाये।।

कबीर दास गुरू से अनुगृहीत हैं। गुरू द्वारा बताई गई साधना करने पर उन्हें अपूर्व आध्यात्मिक रसास्वादन हुआ। दीक्षा प्राप्ति के पूर्व वे मनुष्य थे, लेकिन अब इस रस को पान कर वे देवता बन गये है। कबीर दुःखी है। जिस भक्ति रस का आस्वादन उन्होंने किया है, इसे वे वितरण करना चाहते है। लोकमंगल की भावना से प्रेरित हो, वह चाहते हैं कि मानव भक्ति सागर में लीन होकर आनन्द का लाभ करके अपना जीवन सार्थक और सफल बना लें। इसके लिए वे आतुर और परेशान दिखते है। कबीर हार नहीं मानते हैं और निरन्तर प्रयास में लगे रहते हैं कि उनकी विचारों पर चल कर जनता सत्मार्ग पर चले।

''कबीर की साधना 'सहजयोग' से प्रभावित थी। उसकी मान्यता थी कि सहजयोग से भगवद् प्राप्ति, आत्मा साक्षात्कार, अति सुलभ है। इस सहज समाधि की उपलब्धि के द्वारा फिर मन को अन्य विषयों में लिप्त होने की गुंजाइश नहीं रह जाती।''[7] 'सहजयोग' भक्ति का सीधा मार्ग है, जिसमें भक्ति की प्रधानता है। भक्ति की प्रगाढ़ता के कारण यह योग सहज हो जाता है और स्थिति में खाना-पीना, हंसना-बोलना सब योग बन जाता है, क्योंकि भक्ति के कारण भावना निरन्तर भगवान् की बनी रहती है। भगवान की भक्ति में सराबोर रहने के कारण, आगे चलकर तो स्थिति ऐसी हो जाती है कि प्रत्येक समय 'शब्द' की झनकार अपने अन्दर होती रहती है, जिससे मन बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है और भक्ति विभोर की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जोकि परम आनन्ददायक है।

अध्यात्म के शिखर पर पहुँच कर कबीर मग्न हो गये हैं। समाधि की स्थिति में पहुँच कर वे अपने को धन्य मान रहे हैं, पूरा चिदाकाश प्रकाशमान हो उठा है। पूरी तरह से अब सिद्धि का दरवाजा खुल गया है, इसके लिए कबीर गुरु के अभारी हैं। गुरु कृपा से ही उन्हें इस अमृत फल की प्राप्ति हुई है।

साधना के फलस्वरूप कबीर को जो अनुभूति हुई, जो ज्ञानमिला, सबको अपने काव्य में स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया था, ताकि सर्वसाधारण इस ज्ञान से लाभ उठा सके। साधना की ऊँचाई पर पहुँच कर भी कबीर भौतिक स्तर से उदासीन नहीं थे बल्कि पूर्ण रूप से जुड़े प्रतीत होते थे। "इसलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने के लिए सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीर के इस गुण ने सैकड़ो वर्षो से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र नहीं है, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये है।"[8] कबीर का आध्यात्मिक ज्ञान सब सुखो का मूल शान्ति प्राप्ति की अचूक दवा और जीवन सार्थक करने का अमोघ अस्त्र है। कबीर का यही मूल संदेश था, जो सब काल के लिए प्रासंगिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-223
2. कबीर ग्रन्थावली, पद-259, पृ0-176
3. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-134
4. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-135
5. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-69
6. डॉ0 एल. बी. राम, कबीर ग्रन्थावली, पृ0-292
7. डॉ0 प्रताम सिंह चौहान, कबीर साधना और साहित्य, पृ0-238
8. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-186

भक्ति आन्दोलन और कबीर का निर्गुण

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में कबीरदास ऐसे महान विचारक और महाकवि है, जिन्होंने दीर्घकाल तक भारतीय जनता का पथ आलोकित किया। भक्ति आन्दोलन का इतिहास कबीर के बिना अधूरा है। कबीर के समाजिक और धार्मिक विश्वास भक्ति आन्दोलन की नींव है। वाणी के सर्वोच्च अधिकारी कबीर भाषा का इस तरह प्रयोग करते रहें कि उनके दोहे, शब्द, साखियाँ, जन साधारण तक पहुँच गये। भक्ति की लहर इस वाणी के द्वारा भारत के कोने-कोने तक पहुँची।

कबीर ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कोई संगठन नही बनाया। अपितु उनके शिष्यों ने इसी कमी की पूर्ति की और जाति-पाति के भेदों को मिटाने का भी प्रयत्न किया। परिवर्तन शील संसार में परमात्मा प्राप्ति को ही यथार्थ बताकर आशा और शान्ति मार्ग दिखाया। संसार के दुःखों को उन्होंने मायाकृत घोषित किया व ब्रह्म व जीवन के सम्बन्धों को बताने के लिए वटवृक्ष व बीज का रूपक बाँधा। कबीर ने अपने धर्म में एक मध्यम मार्ग को अपनाया है। उन्होंने हिन्दू मुसलामान दोनों धर्मो का खण्डन किया परन्तु दोनों का समर्थन भी प्राप्त किया है। अपने आपको दोनों के विरोध से बचाया भी है।

कबीर ने इस भक्ति आन्दोलन के द्वारा मध्यकाल के

धार्मिक संघर्ष को चित्रित किया। उन्होंने मध्य युग में भक्ति की प्राचीन परम्परा को भक्ति आन्दोलन द्वारा पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। भक्ति आन्दोलन के प्रमुख कवि के रूप में उनकी वाणी रहन-सहन विचार धारा उन्हें एक उदार हृदय भक्ति कवि सिद्ध करती है। समाजशास्त्रियों ने भक्ति-आन्दोलन को सुधार काल माना है। समाज सुधार के अधिकांश तथ्य तथा प्रयत्न कबीर वाणी में मिलते है। इस पक्ष से भी कबीर प्रमुख भक्त कवि सिद्ध होते हैं। इतना ही नही कबीर के सामाजिक और धार्मिक विश्वास भक्ति-आन्दोलन की नींव के पत्थर है। इस प्रकार कबीर के अनुभव तथा प्रतिभा ने न केवल आन्दोलन को अपितु संत साहित्य को नवीन स्वस्थ रूप प्रदान किया है।

भारत की भावात्मक एकता तथा हिन्दू संस्कृति के विकास में भक्ति आन्दोलन का सर्वप्रमुख योगदान है। भक्तिकाल में भक्ति आन्दोलन को प्रवाह इतनी तीव्रगति से चला कि उसकी लपेट में साधारण जनता तथा बड़े-बड़े संत भी आ गये। इसने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में एक स्वर्ण युग का उद्घाटन किया। भक्ति आन्दोलन एक विराटजन आन्दोलन बनाने का श्रेय 'रामानन्द' को जाता है। इसे सफल बनाने के लिए बंगाल, गुजरात, पंजाब, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र का प्रमुख हाथ रहा है।

भक्ति आन्दोलन को विकसित करने में सबसे अधिक योगदान आलवरों का है, जिन्होंने पहली बार इसे सामाजिक स्तर पर लोक धर्म बना दिया। ईश्वर के चरणों में पूर्ण रूप से अनुरक्त हो

जाना भक्ति-आन्दोलन कहलाता है। हिन्दी के कई विद्वानो का मत है कि हिन्दी साहित्य में भक्ति युग का अविर्भाव एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक भावना का परिणाम मानते है। इनके लिए यह आन्दोलन एक महा आन्दोलन है, जो कि भारतीय साधना के इतिहास में अप्रतिम है।

हिन्दू समाज भक्ति-आन्दोलन से पूर्व चार वर्गों में बँटा हुआ था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र, शुद्रों को नीच जाति समझी जाती थी। संत कवियों ने इसका विरोध किया। अब उन्हें मंदिरों के अंदर जाने की अनुमति दी गई। अब वे धार्मिक ग्रंथ अच्छी प्रकार से पढ़कर लाभान्वित हो सकते थे। उत्तर भारत में यह बन्धन अधिक कठारे थे। जिन पर समानता का सेतु बांधने का कार्य इतना सरल नही था। परन्तु तत्कालीन संतों ने अपने अथक प्रयासों से इस कार्य को सम्पन्न किया। भक्ति आन्दोलन से संबंधित ये सभी संत उत्तर भारत के होने के साथ-साथ निम्न जाति से सम्बन्ध रखते थे। उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के फैलाव में कारण उपयुक्त सभी सन्त कवि इसी क्षेत्र से जुड़े हुए थे। यहाँ उनका अधिक प्रभाव पड़ा चूँकि वे स्थानीय थे।

वस्तुतः भक्ति का अविर्भाव हिन्दू धर्म के मूल-ग्रन्थ वेदों से हुआ। किन्तु वैदिक भक्ति प्रायः देवभक्ति होने के कारण भागवत भक्ति की विस्तृत भूमिका आरम्भ नही कर सकी। दूसरे कर्मकांडों से जुड़ी होने के कारण वह साधना के आडम्बर से अत्यधिक जुड़ गयी। अतः उसके साध्य का पथ अवरूद्ध हो गया। डॉ0 पारसनाथ तिवारी

ने "वैदिक भक्ति को साधन-रूपा मानकर उसे साध्य रूपा होने से अस्वीकार किया है।"[1]

भक्ति का मूलतः आरम्भ भागवत् धर्म में प्राप्त होता है। भागवत धर्मों का प्रादुर्भाग्व सर्वप्रथम 'महाभारत' के शान्ति पर्व में नर-नारायण नामक दो ऋषियों से हुआ। उत्तर भारत में पल्लवित होती हुई यह धारा दक्षिण के आलवर सन्तों तक पहुँच गयी। नवीं-दसवीं शताब्दी में तमिल प्रदेश में इस धारा का प्रभाव आचार्यों द्वारा और भी विकसित हुआ। यह धारा आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध फलीभूत होती गयी। परिणामतः यमुनाचार्य से होती हुई रामानुजाचार्य तक उसने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों से इस धारा को पुष्ट किया।

"कालान्तर में विदेशों से आने वाले धर्म सम्प्रदाय भी भागवत धर्म के प्रेम-तत्व से प्रभावित हुए। और इस तरह बारहवीं-शताब्दी तक भक्ति आन्दोलन पूर्णतः प्रौढ़ होकर पुनः उत्तर की ओर अग्रसर हुआ। महाराष्ट्र में आकर नाथपंथी योगियों और उत्तर भारत में रामानन्द के प्रभाव से यह धारा बंगाल, असम, पंजाब और गुजरात तक पूर्णतया फैल गयी। यहाँ तक आते-आते हिन्दी भाषा की स्वतन्त्र सत्ता, अपभ्रंश से निर्मित हो गयी। परिणामतः निर्गुण-सम्प्रदाय में आदि कवि 'कबीर' में इस धारा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति मुखर हुई।"[2] इस तरह कबीर की रचनाओं में भक्ति का जो व्यापक पक्ष मिलता है, उसका आदि सुत्र भागवत धर्म के रूप में एक लम्बी परम्परा होकर, अनवरत, गतिशील रहा। कबीर के भीतर उनके विशेष

तर्कों के आधार पर यह भक्ति और भी सघन एवं सार्थक हुई।

विद्वानों ने कबीर की भक्ति को वैष्णव भक्ति की पहचान दी है। डॉ० भोलानाथ तिवारी का कथन है कि वैष्णवी भक्ति में आज शांडिल्य, अंगिरा तथा नारद के सूत्र उपलब्ध है। उनमें से नारदी भक्ति दक्षिणी भारत में प्रचलित होकर, उत्तर भारत तक जा पहुँची। अतः मध्ययुगीन भक्ति को नारदी भक्ति कहना ही उचित होगा। इस तरह कबीर की भक्ति को उन्होंने नारदी भक्ति तो कहा ही, साथ ही उन्होंने कबीर का एक पद भी साक्ष्य के रूप में उद्धृत किया है। "भक्ति द्राविण उपजी लाए रामानन्द, परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड।"[3]

इसी तरह डॉ० रामचन्द्र तिवारी, डॉ० पारसनाथ तिवारी आदि अनेक विद्वानों ने कबीर की भक्ति को 'नारदी भक्ति' से जोड़कर देखा है। नारदी भक्ति या वैष्णवी भक्ति के मूल स्रोतों के साथ कबीर की भक्ति का सामंजस्य करना समीचीन होगा। नारद के अनुसार 'भक्ति' ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूप है, इसलिए समस्त कर्मों और आचारों को ईश्वर के लिए अर्पित कर देना और उसके विस्मरण की स्थिति में अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति का लक्षण है।

कबीर का प्रभु निर्गुण होत हुए भी गुणों के बाहुल्य का भंडार है। वह जिह्वा और लेखनी की शक्ति से परे है। फिर भी वे अपने परम तत्व का गायन करते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी विरहानुभूति और प्रबल हो उठ्ती है। उनका प्रभु भक्तों के लिए वह

सार तत्व है, जिसका स्मरण मात्र ही अद्भूत सुखों का द्योतक है। कबीर उस परम तत्व का दर्शन हर कहीं करते हैं। तथा उसके भीतर स्वयं को डुबो देने की बात स्वीकार करते हैं। उसके लिए सांसारिक पूजा की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसके लिए ज्ञान की पूजा ही पर्याप्त है। कबीर का ब्रह्म क्योंकि रूप से परे निर्गुण हैं। अतः रूपा शक्ति सगुण भक्त कवियों की तरह उनमें प्राप्त नहीं। उनका ब्रह्म तो सहज तेज के स्वरूप के प्रति आकर्षण पैदा करता है। वह परमतत्व की सेवा के अतिरिक्त सांसारिक उपलब्धियों को तुच्छ मानते है। और उस अव्यक्त की सेवा में दास की भूमिका निभाते हैं।

कबीर ने अपनी भक्ति के व्यापक सूत्र पुराणों एवं प्राचीन ग्रन्थों से अवश्य लिये हैं, तो क्या इस आधार पर उन्हें वैष्णव सन्त मान लेना चाहिए? यह प्रश्न सहज ही पैदा होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "कबीर ने वेद–पुराणों का अनुसरण मात्र ही नहीं किया, अतः उन्हें पुराणों का अनुयायी कहना समीचीन न होगा।"[4] डॉ० रामचन्द्र तिवारी के अनुसार– "कबीर ने जिन सम्बन्धों की राम के प्रति व्यंजना की है, उनमें ग्यारह प्रकार की आसक्तियां भी लक्षित की जा सकती है। किन्तु संभवतः वे नारद–भक्ति सूत्र के शास्त्रीय विधान को पूर्णतः चरितार्थ करने के लिए भक्ति के क्षेत्र में नही आये। ..... वस्तुतः रागात्मक सम्बन्ध स्थापन से लेकर भावमूलक अद्वैतता की स्थिति तक पहुँचने के लिए उन्होंने इन आसक्तियों को सहायक रूप में स्वीकार किया है।"[5]

अतः कबीर की भक्ति का आन्तरिक पक्ष वैष्णव भावना से अधिकांश तत्व तो ग्रहण करता है किन्तु साथ ही हठयोग की साधना सिद्ध–नाथों की साधना, इस्लामी सुफी फकीरी की प्रेम व्यंजना जैसी बहुसंख्यक, साधनाओं के प्रभाव से भी वे पूर्णतया सम्बद्ध दिखाई देते है। वास्तव में कबीर की भक्ति भारतीय संस्कृति के उस विशाल पक्ष जैसी है, जो अनेक संस्कृतियों के फलीभूत होती हुई, अपने निजत्व की पहचान लगातार बनाये हुए हैं।

अतः कबीर की भक्ति को किसी एक घेर में रखकर देखना, एकांगी दृष्टिकोण होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि कबीर अकेले स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति के पक्ष में नहीं थे। उनकी आध्यात्किता वैयक्तिक न होकर सामाजिक, धरातल के लिए आकांक्षी थी। वे आचार–विचार एवं सिद्धान्त के उच्च धरातल द्वारा उसे वह रूप देना चाहते थे। जो जन सामान्य के लिए श्रेयष्कर हों। अतः कबीर के भीतर सर्वांगीण धाराओं का समाहार बहुत विराट था।

डॉ० भोलानाथ तिवारी इस सम्बन्ध में कबीर की सार्वजनिकता पर विचार करते हुए कहते है कि "सारे समाज में आग लगी हो तो एक व्यक्ति बहुत निश्चिन्तता पूर्वक शीतल नहीं रह सकता। अतः पूरे समाज का वातावरण उसकी शान्ति के लिए बहुत आवश्यक है।"[6] सामाजिक वातावरण की स्वच्छता क लिए भक्त की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। डॉ० तिवारी ने इस जिम्मेदारी को निश्चय ही परमार्थ से जोड़ कर देखा है। कबीर का वैष्णव होना, उनकी भक्ति का प्रबल पक्ष तो है, किन्तु वे सम्पूर्ण रूप में वैष्णव

मात्र है। यह कथन प्रायः अस्वीकृत ही होगा। कबीर का वैष्णव-पक्ष उनकी जनयात्रा के एक समर्थ सहायक भक्ति के रूप में ही उल्लेख होगा।

कबीर ने अपनी साधना की सफलता के लिए कुछ सहायक स्थितियों की आयेजना की है। वे साधन को उस सती की भाँति मानते है। जो अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान भी नहीं कर सकता। अपनी आँखों में प्रियतम के अनुराग की लाली लगा लेने के बाद, वह काजल को सर्वथा त्याज्य मानती है। "वह स्वाती की बुँद की तरह प्रणयाकांक्षी है।"[7] कबीर अपने आराध्य को निष्काम मानते हुए भक्त को निष्काम रहने की शिक्षा देते हैं। वे किसी आकांक्षा से प्रेरित भक्ति को निष्फलता का द्योतक मानते है। भक्त के लिए सांसारिकता से ऊपर उठना आवश्यक है।

डॉ० रामचन्द्र तिवारी "निष्काम भक्ति के आधार पर मध्यकालीन भक्ति को वैदिक साधना से अलग मानते है। और इसका सूत्र नारदी भक्ति से जोड़ते हैं।"[8] कबीर उस परम सत्ता के आगे स्वयं को दीन मानते है। वे स्वयं को उसके हाथों, उसकी इच्छा के वशीभूत हो जाते हैं। फिर परमतत्व के समक्ष उनका विनय का भाव होता है। वे भक्त के लिए उस मध्य मार्ग की आयोजन करते हैं जिसके सूत्र बौद्ध धर्म में उपलब्ध है। वे व्रत-उपवास से शरीर को सुखाने एवं गृहत्याग द्वारा आडम्बर की स्थिति खड़ी करने के पक्ष धर नहीं है, बल्कि वे मनोविकारों पर विजय मात्र को भक्त के लिए आवश्यक समझते हैं।

नारद भक्ति सूत्र के अनुसार विषय एवं कुसंग–त्यांग भक्ति के लिए परमावश्यक है। कबीर इससे आगे बढ़कर आचरण की शुद्धता के लिए, विकार, उत्पन्न करने वाले साधनों को त्याज्य मानते हैं। भगवान की भक्ति के लिए वे विषयों से वैराग्य आवश्यक मानते हैं। वे कामिनी को भक्त के मार्ग का बाधक बताकर उससे समाप्त होने वाले सुखों की ओर इंगित करते हैं। कबीर इस बाता को स्वीकार करते हैं कि भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह भगवान के प्रतिकूल आचरणों को छोड़कर उसके अनुकूल आचरण करें तथा इस बात में आस्था रखें कि प्रभु सर्व–समर्थ है। वह रक्षक है। वह हर तरह से जीवन नौका को संसार सागर से पार करेगा।

डॉ भोलानाथ तिवारी का कथन है कि "भक्त इस प्रापत्ति के अनुसार अपने अहंपूर्ण व्यक्तित्व को समाप्त कर सब दृष्टियों से आराध्य में लीन हो जाता है। पुराणों में प्रपत्ति के छः भेद किये गये हैं।"[१] कबीर ने भक्ति के लिए 'गुरू' को सर्वोपरिमाना है। हरि के रूठने पर तो भक्ति के लिए कोई पथ खुल सकता हैं। किन्तु 'गुरू' के रूठने पर सारे पथ बन्द हो जाते है। कबीर अपने गुरू पर 'बलिहारी' जाते हैं। यहाँ तक कि वे उसे गोविन्द का पर्याय मान लेते हैं। वे उसके उपकार को कभी भी भुलने की स्थिति में नही होते क्योंकि सतगुरू ने उनके ज्ञान के अनन्त लोचन खोल दिये।

कबीर के ज्ञान और योग के विषम में विद्धानो में मतभेद है। वस्तुतः वे ज्ञान और योग को एक दूसरे का पर्याय मानकर चित्त प्रत्तियों को शान्त करने का साधन मानते हैं। डॉ0

रामचन्द्र तिवारी के अनुसार "ज्ञान-साधना का अर्थ माया से मुक्त होकर 'आतम राम' को पहचानना है।"[10] ज्ञान-भ्रम, माया, मोह, तृष्णा को समाप्त कर, सत्य की प्रतीति करा देता है। वस्तुतः योग-साधना का लक्ष्य भी इन परिस्थितियों से मुक्ति पाना ही है। अतः कबीर अपनी साधना में ज्ञान के साथ योग की भी स्थिति स्वीकार करते हैं।

साधना में हठ योग की विशिष्टता है। अतः कबीर इड़ा, पिंगला, कुंडलिनी तथा अष्टचक्र की चर्चा करते है। "साधना की मध्यावस्था में हठयोग में प्रेम भाव का संयोग हो जाता है। अन्तिम अवस्था में भक्त केवल प्रेम भोगी रह जाता हैं उस समय उसकी स्थिति कुछ इस प्रकार हो जाती है, कि वह वाणी की सीमा से स्वयं को अभिव्यक्ति करने की स्थिति में नहीं होता।"1

इस तरह कबीर अपने आराध्य परमतत्व को निर्गुण की पहचान देकर उसे उनके नामों से व्यक्त कर, भारतीय परम्परा से प्राप्त भक्ति के प्रायः सभी उदात्त स्वरूपों का समाहार करते हैं। उन्होंने परमतत्व के उन प्रचलित अंशों को अस्वीकार कर दिया, जो अपनी सीमाओं के कारण जन्म-मरण में भटक कर एवं जन-सामान्य में सीमित होकर अलग अलग सम्प्रदायों के लिए भक्ति का युद्ध उपस्थित कर सकें। कबीर ने अपने प्रभु का न केवल भारतीय परम्परा से प्राप्त रूप में गुणगान किया , अपितु वे उसके सर्वथा नये रूप के प्रति सचेत भी हुए। उन्होंने भक्ति की सर्वथा नूतन पद्धति का आविष्कार किया, जो तत्वतः अनेक पद्धतियों का समावेश होकर भी

एक नये पथ का निर्माण करती है।

वस्तुतः कबीर की साधना को वर्गीकृत करने की बजाए अन्तःसाधना ही मानना उचित होगा। बाह्य साधना, तो उनकी मुख्य साधना की सहायक मात्र है और इनका स्वरूप भी इतना आन्तरिक है कि ये प्रचलित बाह्य साधनाओं से एकदम अलग ठहरती है। वास्तव में ये स्थितियाँ कबीर की व्यक्तिगत सीमाओं के कारण थी। कबीर ने उन्हें जनसामान्य के लिए इसलिए वरेण्य माना कि उनकी तरह तत्कालीन भारत में सीमाओं से बँधा हुआ बहुसंख्यक वर्ग था। कबीर क्योंकि बहुसंख्यक वर्ग के लिए पथ निर्मित कर रहे थे। अतः स्वाभाविक था कि वे अपनी छवि के अनुसार समाज को भी देख रहे थें।

निर्गुण

जहाँ तक कबीर की भक्ति का प्रश्न है, तो यह सर्वविदित है कि वे 'निर्गुण ब्रह्म' की उपासना के समर्थक हैं ? निर्गुण भक्ति की प्रेरणा उन्हें सम्भवतः महाराष्ट्र भक्तों–ज्ञानदेव और नामदेव से प्राप्त हुई थी। निर्गुण–सगुण से परे 'द्वेताद्वेत' विलक्षण समतत्त्व जिसे कबीर ने 'निर्गुण राम' कहा है। यह बात नाथ योगियों की परम्परा में मान्य नहीं थी। महाराष्ट्र सन्त ज्ञानेश्वर रचित गीता की 'ज्ञानेश्वरी टीका' के सम्बन्ध में कहा जाता है कि "सूक्ष्म रूप से देखने पर उपनिषद्, गीता, योग वशिष्ठ, काश्मीरी शैव सम्प्रदाय और गुरू परम्परा से प्राप्त नाथ–सम्प्रदाय का शैवा द्वैव तत्त्वज्ञान सम्मिलित

रूप से ज्ञानेश्वरी के अद्वेत सागर में आकर मिल गये हैं।"[11]

कबीरदास ने ज्ञानदेव और नामदेव को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। ऐसी स्थिति में अद्वैत-मूला भक्ति के लिए उनका महाराष्ट्र संतों का ऋणी होना सभाव्य हैं महाराष्ट्र संतों में यह प्रवृत्ति कहाँ से आई यह विचारणीय हैं। संत ज्ञानेश्वर पर काश्मीरी शैव मत के प्रभाव की बात स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त तमिल के शैव तथा कर्नाटक के वीर शैव भी निर्गुण शैव की उपासना करते थे। बहुत संभव है महाराष्ट्र संतों पर उनका भी प्रभाव पड़ा हो। यह तो संभव नही हैं कि कबीरदास ने किसी भक्ति-सम्प्रदाय या दार्शनिक मत का प्रभाव उसके सैद्धांतिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ग्रहण किया होगा। अतः हमें यही मानकर चलना चाहिए कि कबीर पूर्व-युग में निश्चय ही दक्षिण की यह अद्वैत मूला भक्ति रमते हुए संतों और भक्तों के द्वारा उत्तर भारत में आयी होगी।

हिन्दी के प्रख्यात आलोचक आचार्य शुक्ल का तो स्पष्ट मत है कि, अतः तत्त्व-दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से अज्ञात की लालसा कोई भाव ही नही है। भक्ति के समबन्ध ा में उनका निर्णय है- व्यक्ताव्यक्त, मार्तामूर्त ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षों में से भारतीय भक्तिरस के भीतर वयक्त और मूर्त पक्ष ही, जिसका हृदय के साथ सीधा लगाव है, लिया गया। आचार्य शुक्ल का यह मत उन आचार्यो और भक्तों की मान्यताओं की पुष्टि करता है, जो उपास्य रूप में सगुण ब्रह्म को ही महत्व देते हैं।

भक्ति के क्षेत्र में गुरू-निष्ठा, संयम एवं मानसिक

दृढ़ता को कबीर ने अनिवार्य माना हैं। वे अच्छी तरह जानते है कि मन की चंचलता समाप्त कर उसे उन्मनी अवस्था तक पहुँचने में गुरू के मर्मभेदी शब्दबाण ही मूल कारण है। गुरू के महत्व का प्रतिपादन करते हुए वे उसे गोविन्द के समकक्ष स्थापित करते है। भक्त के संयम और मानसिक स्थिरता को उन्होंने सती की मानसिक दृढ़ता से उपमित किया है। उन्होंने बार-बार मन के विकारों को समूल नष्ट करने की बात कही है और हरि का भक्त होने के लिए काम, क्रोध एवं लोभ को त्यागना आवश्यक माना है। उनकी दृष्टि में हृदय में हरि के प्रति प्रेम का प्रकाशित होना मानव जगत् में योग विभूति का जगना और संशय का नष्ट होना एक साथ चेतना के एक ही स्तर पर संभव है। इस प्रकार कबीर की भक्ति-साधना तत्त्वतः कश्मीर के शैव मत में मान्य भक्ति-पद्धति से प्रभावित मानी जा सकती है।

यह ध्यान देने की बात है कि कबीर ने जिस निर्गुण नाम के मर्म को प्रकट करना चाहा है उसकी व्याख्या अभिनव गुप्त ने बहुत पहले ही 'तन्त्रलोक' में कर दी थी। उनके अनुसार जड़ व अजड़ विश्व वैचित्र्य द्वारा क्रीड़ा करने वाले तत्व राम है। "स्पष्ट ही राम से परमशिव या परमब्रह्म का तात्पर्य ग्रहण किया गया है। प्राण व अपान अथवा भाव-अभाव इन दोनों अवस्थाओं को छोड़कर 'मध्यदेशस्थ' होने से ही साधक रामस्त होता है। यही स्थिति कबीर के 'राम' की है।"[12]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म दोनों की उपासना परम्परा भारतीय साधना-मार्ग में विहित

है। निर्गुण तत्त्व की उपासना चाहे तर्क और मनोविज्ञान सम्मत् न हो किन्तु कश्मीर एवं तमिल शैवों तथा कर्नाटक के वीर शैवों एवं महाराष्ट्र संतों में स्वीकृत होने के कारण उसकी एक सशक्त परम्परा लक्षित की जा सकती है। कबीर इस परम्परा के एक श्रेष्ठ साधक है। जो उनकी भक्ति विषयक अवधारणाओं में परिलक्षित होती है और काव्य में अभिव्यक्त हुई है।

कबीर वस्तुतः रामानन्द के शिष्य थे, और उन्होंने 'राम' शब्द का प्रयोग भी किया है। किन्तु उनके राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं। उन्होंने 'राम' का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के रूप में किया है। कबीर के यह 'राम' अपनी निजी विशेषता लिये हुये हैं । उन्हें कभी-कभी तो निर्गुण भावना में भी स्थूल भावना का अभास मिलता है। इसलिए वे 'राम' को निर्गुण और सगुण दोनों से परे मानते है। यद्यपि कबीर की रचनाओं में भारतीय निर्गुण ब्रह्मवाद, सूफीयों का रहस्यवाद, योगियों की साधना, अहिंसा आदि बातें होते हुए भी स्वामी सेवक के सम्बन्ध की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का उल्लेख हो गया है। वास्तव में निर्गुण ब्रह्म इतनी सूक्ष्मता लिये हुए है कि लौकिक भाषा और भाव ग्रहण किये बिना उसे दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ- कबीर की भगवान भावना में माधुर्य भाव विद्यमान है-

"हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया।"

यह राम की बहुरिया प्रियतम से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की बाधाओं का अनुभव करती हैं, और तीव्र विरह वेदना से पीड़ित होती है। इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है-

"जागु पियारी अब क्या सोवे,

रैन गइ दिन, काहे को खावै।"

इसी अज्ञान को मिटाने के लिए उन्होंने आत्म–ज्ञान का निर्देश दिया है, जो सन्त गुरू के उपदेश के बिना प्राप्त नही हो सकता।

कबीर निर्गुण भाव से ब्रह्म के जिज्ञासु हैं, वे चिन्तन के क्षेत्र में ज्ञानी है। भावुकता और कल्पना अर्थात् कविता के क्षेत्र में रहस्यवादी है। उन्हें संसार के प्रत्येक कण और व्यापार में प्रियतम का मधुर रूप भी दिखायी देता है। सूफियों की तरह उन्होनें ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द के रूप का वर्णन किया है, और ब्रह्म की भावना अत्यन्त सौन्दर्य और गुण सम्पन्न प्रियतन के रूप में की है। इसी प्रेम की अवस्था में वे आत्म समर्पण करते हैं ,और प्रियतम को अपने में पूर्णरूप से लीन कर देते हैं।

लाली मेंरी लाल की जित देखूं तितलाल।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गयी लाल।।

ज्ञान के क्षेत्र में यही 'प्रियतम' ब्रह्म के रूप में इस विविध रूपात्मक संसार के कण–कण में वयाप्त है। माया के कारण मनुष्य में जो भेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वह ज्ञान के कारण नष्ट हो जाती है। जब माया का पर्दा उठ जाता है, तब घटाकाश की भाँति सर्वव्यापी ब्रह्म मिलकर एक हो जाता है। भीतर का ब्रह्म बाहर के ब्रह्म में समा जाता है।–

''जल में कुँभ, कुँभ में जल है, बाहरि भीतर पानी।

फूटा कुभ, जल जलहि समाना, यह तत कथों गिंयानी।।''

कबीर का यह अद्वैत है । उनकी दृष्टि में यर्थाथ भक्ति के भाव का होना अति आवश्यक है, जिसके बिना ज्ञान संम्भव नहीं है जो यह जानता है, वहीं भक्ति रस का आस्वादन कर सकता है उनका ज्ञान अत्यन्त सरल और व्यवहारिक ढंग से वर्णित है। कबीर स्वयं पढ़े लिखे नही थे। उनके ग्रन्थ उनके शिष्यों के हाथों से लिपि बद्ध किये गये मिलते है। इस लिए भाषा, ग्रन्थ–संख्या आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठीन है। कबीर का मूल और शुद्ध पाठ आज तक नही मिलता। कबीर प्रधानतः उपदेशक और समाज सुध ारक थे। उनकी रचनाओं में जहाँ कही काव्य सौन्दर्य दृष्टि गोचर होता है जैसे विरह के पदो में, वहा वह स्वयंमेव आ गया है। कहना चाहे तो हम यह कह सकते है कि उनमें काव्य कम काव्यानुभति अधिक है सन्देश देना उनका प्रधान ध्येय था। वे भवुक और स्पष्टवादी थे।

वही ईश्वर निर्गुण है और वही सगुण है, इस प्रकार के कथनों का कारण यह था कि वह वास्तव में निर्गुण है। उसका स्वयं अपना स्वरूप किसी भी गुण से आच्छादित नही हो सकता, परन्तु वही जब सृष्टि के समस्त जीवों में चर अचर में अथवा स्थावर जंगम में व्याप्त हो रहा है तब उस व्यक्ति के विशेष भाव में वह सगुण रूप हैं। इस सगुण रूप के अभास का कारण यह है कि जीव भाव से उसका कार्य क्षेत्र गुणों से युक्त जान पड़ता है। सगुण के स्वभाव को समझने में इसीलिए कठिनाई उपस्थित होती है।

इसी तथ्य को हृदयगम करते हुए तुलसी दास ने

रामचरित का अलौकिक तत्व बहुत प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु अन्त में उन्हे यही कहना पड़ा कि– ''निर्गुण रूप समझने में बड़ा सरल है। वास्तविक कठीनाई तो सगुण रूप को समझने में है बड़े–बड़े ज्ञानी मुनि भी सगुण ईश्वर के सहज चरित्र को समझने के समय भ्रमित हो जाते है।''[13] निर्गुण ब्रह्म का अवतरण पक्ष बहुत अधिक आकर्षक या सूक्ष्म है। 'ब्रह्म' नाना प्रकार के अवतारों में वैष्णव भक्ति भाव में दो अवतारों को ही विशिष्ट मान्यता प्राप्त हुई है।

राम का उदात्त पुरूषोत्तम या मर्यादाशील स्वरूप और कृष्ण का परम आकर्षण मय नील वर्ण लीला काटी रंजक स्वरूप। 'राम' जो सबमें रमा है प्रत्येक में समाया हुआ है, प्रत्येक के अन्दर स्थिति है। इस प्रकार वह राम के रूप में ग्रहण करने का प्रत्येक जीव पर चारो ओर व्याप्त तथा रोम में राम प्रतिष्ठ होते हुए भी वह ब्रह्म अनन्त, अलक्ष्य रूप में विद्यमान है।

वेद उपनिषद का सारांश यही है कि "वह स्वयं निर्गुण हैं, प्रकृति परावरनाथ है, परन्तु जब उसने इच्छा की कि 'एकोडह बहुस्याम प्रजायेय' और यह संसार रूपी 'ऊर्ध्व भूलमधः शाखम्' वाला अत्यान्तवृक्ष अस्तित्व में आया ऐसी स्थिति में , उस संसार में अपने सूक्ष्म भाव से व्याप्त होन के कारण वह अवतरण करता हुआ जान पड़ता है। जिसने भी उस एक मात्र सत्य का अनुभव किया उसने दोनो ही स्थितियों सर्वोपरि और सर्वव्यापी को ग्रहण किया।''[14]

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरान्त [illegible] के प्रति भ्रम
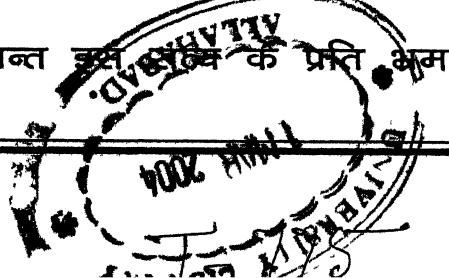
वही रह जाता। ब्रह्म अपना साक्षी इन दोनों रूपों के माध्यम से जगत को दे रहा है। परन्तु वस्तुतः वह अपने वास्तविक निजस्वरूप में समस्त गुणों से परे है। इस ज्ञान को पाने के लिए सभी सन्तो ने अनन्य शरणगति प्रपत्ति की भावना पर बल दिया है। महा प्रभु चैतन्य ने इस प्रपत्ति को ही भक्ति के लिए एक मात्र मार्ग कहा। अनन्य शरणगति अर्थात अहंकार पूर्ण रूपेण त्याग मात्र उस ईश्वर का ही निरन्तर उस एक सत्य के प्रति अभिमुख रहना ही भक्त का कर्तव्य है। ऐसा अभ्यास कर लेने पर स्वयं ही मनुष्य जीव भाव में स्थित हो जाता है जो कि अनन्त ईश्वर का ही वास्तविक स्वरूप है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 पारस नाथ तिवारी, कबीर वाणी, पृ0-83
2. डॉ0 पारस नाथ तिवारी, कबीर वाणी, पृ0-81
3. डॉ0 भोला नाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0-67
4. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0-144
5. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0- 48
6. डॉ0 भोला नाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0-130
7. डॉ0 भगवत स्वरूप मिश्रा, कबीर ग्रन्थावली, पृ0-473, पद- 339
8. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0- 81
9. डॉ0 भोला नाथ तिवारी, कबीर जीवन और दर्शन, पृ0-70
10. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, कबीर मीमांसा, पृ0- 84
11. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ0-276
12. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ0-223
13. डॉ0 माता प्रसाद गुप्त, रामचरितमानस उत्तरकांड, पृ0-529
14. श्रीमत्भागवत्गीता, अध्याय 15, श्लोक-

द्वितीय अध्याय

कबीर के आलोचक के रूप में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का विचार

हिन्दी साहित्य में कबीर के हिन्दूवादी आलोचक के रूप में अयोध्या सिंह उपाध्याय ''हरिऔध'' ने कबीर पर एक पुस्तक 'कबीर वचनावली' लिखकर आलोचना के इतिहास को आगे बढ़ाने का प्रयास किये हैं। यह किताब बहुत सोच समझकर रणनीति के तहत ही लिखी गई है। लेकिन इस पुस्तक में उनके द्वारा की गयी चतुराई उभर कर सामने प्रस्तुत हो जाती है। इस रचना में कबीर की विचारधारा को हिन्दू धर्म से भिन्न रखते हुए भी उसे हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने की कोशिश किया गया है। और इस अभियान में उनके द्वारा कबीर की प्रशंसा के साथ ज्यादातर निन्दा की गई है। क्या कबीर को हिन्दू सिद्ध करने के लिए कबीर को अपमान का अधिकार अपने हाथ में लेते हुए हिन्दू लेखकों का यह व्यवहार उचित है? जिसके पीछे वास्तविकता यह है कि वे किसी मजबूरी में कबीर को स्वीकार करना चाहते है। फिर भी कबीर के प्रति उनका पूर्ण समर्थन नहीं होता। यहीं असमंजस्य की अवस्था 'कबीर वचनावली' में अयोध्या सिंह उपाध्याय के सामने प्रकट होती है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय अपने आलोचना के परिवेश में कबीर को हिन्दू और वैष्णव धर्म का सिद्ध करना चाहते है, और दूसरे अर्थ में यह कहना चाहते है कि कबीर का स्थान हिन्दू धर्म के विचारको में नहीं है। वे कबीर को हिन्दू धर्म में न तो सम्मान

दिलाना चाहते हैं और न ही हिन्दू धर्म से अलग होने देना चाहते हैं। कबीर की आलोचना में लिखते हैं- "कबीर साहब ने बड़े गर्व और आवेश से स्थान-स्थान पर यह कहा है कि हमारे वचन से ही मानव का उद्धार हो सकता है, हमारे शब्द ही लोगों को मुक्त करेंगे। किन्तु जो कुछ वेदशास्त्र या कुरान में है, उससे उन्होंने अधिक क्या कहा? किन्तु क्या इस पथ में भी वे उतने ही ऊँचे उठे हैं जितने कि उपनिषद और दर्शनकार उठ सकें?"[1]

डा० धर्मवीर का कथन है कि "हरिऔध जी के उपरोक्त कथन से यह जाहिर हो जाता है कि उनके द्वारा कबीर पर इतनी बड़ी किताब लिखकर भी कबीर की मूल बात नहीं समझ सके हैं। कबीर के सम्बन्ध में लिखने से पहले उन्हें ज्ञात होना चाहिए था कि कबीर न तो ब्राह्मण से कोई अपेक्षा रखते थे और नही मुल्ला को कुछ समझना चाहते थें। इससे दूर हटकर कबीर का अपनी एक अलग समाज है इसे ही कबीर का 'लक्ष्य समाज' कहा जा सकता है। ऐसे समाज में शूद्र और अन्त्यज सम्मानित होते हैं। और कबीर को सिर्फ इनके भले की सोचनी है। यह सत्य है कि ब्राह्मण का भला वेद से और मुसलमान का भला कुरान से होता है परन्तु इन सब से परे कबीर की सोच यह थी कि दलितों का भला कौन करेगा? क्या हरिऔध जी को यह बात ज्ञात नही था कि वेद, और पुराण के द्वारा कबीर के समाज का हित नही हो सकता? आखिर जिन शास्त्रों ने शुद्रों और अस्पृश्यो को नीचे गिराया हो वे उनकी हित का विचार कैसे सोचेंगे? जबकी छुआ छूत की भावना हिन्दू धर्म शास्त्रों की उपज है

यह सब जानते हुए भी दलित समाज ऐसे शास्त्रों से अपने कल्याण की आशा रखे तो यह उसकी भूल होगी।"[2]

यह र्सव विदित है कबीर अपने युग के महापुरूष और ज्ञानी थे उन्होंने ऐसे कुण्ठित समाज को वेदों और पुरोणों के जाल से बाहर निकालना चाहा था। उनका मानना है कि वेद और उपानिषद की पवित्रता के रहते हुए इस देश में मनुष्य अछूत और चाण्डाल क्यों माने जाते रहे है? अवतार वाद को लेकर कबीर सामाजिक करूणा; पूर्णतः यथार्थ रूप में उभरकर प्रकट होती है जब वे कहते है-'दस अवतार निरंजन कहिए सो अपना न कोई'[3] ईश्वर के इन अवतारों ने ब्राह्मणों के हित के लिए अवतार ले सकते है परन्तु शुद्रों के उद्धार के लिए नही। वह ग्राह के मुँह से हाथी की जान बचाने के लिए जल में प्रकट हो जात है। लेकिन अछूत के ऊपर अस्पृश्यता के कलंक को नही हटा सकता है। मनुष्य तो मनुष्य है उसके ईश्वर में भी भेद की भावना निहित है।

अपने आलोचना के अगले आयाम पर हरिऔध जी नें इस किताब में एक सवाल यह उठाया है कि क्या कबीर अनपढ़ थे? उन्होंने लिखा है- "किसी-किसी का विचार है कि कबीर अपठित थे, उन्होंने वेद शास्त्र उपनिषदों को पढा नही, कुरान के विषय में भी वे ऐसे ही अनभिज्ञ रहे, इसलिए उन्होंने न ग्रन्थों के मानने वालों के आचार व्यवहार को जैसा देखा, वैसे ही उनके विषय में अनुमति प्रकट की। किन्तु मैं इस विचार से सहमन नहीं हूँ। कबीर साहब चिन्ताशील पुरूष थे। उनके नेत्र के सामने ही उसी समय में हिन्दुओं में स्वामी

रामानन्द और मुसलमानों में शेख तकी जैसे महापुरूष मौजूद थे।. ...... मेरा विचार यह है कि उन्होने एक नवीन धर्म स्थापन की लालसा से ही ऐसा किया।'[4]

डा0 धर्मवीर का मानना है कि "इस टिप्पणी में हरिऔध जी कुछ गलत और कुछ सही कह रहे हैं। गलत बात यह है उनके द्वारा ऐसे महापुरषों को जिसे अपने-अपने मजहब के लोगों ने उच्च स्थान प्रदान किया है। ऐसे लोगों के आचार-व्यवहार में अन्तर होना आवश्यक मान लिया है। यथार्थ रूप से धर्मिक और सामाजिक नैतिकता के दृष्टि से सामान्य और मान्य पुरूष का यह विभेद मिटा दिया जाना चाहिए। ऐसी अन्तर की भवना से जीवन के प्रत्येक मोड़ पर शोषण की विरासत में मिलेगे। जिससे समाज में अराजकता को बढ़ावा मिल सकता है।"[5]

एक नए धर्म को स्थापित करने के उद्देश्य से कबीर द्वारा अपनाई गई रणनीति पर हरिऔध जी ने विश्लेषण करते हुए लिखते हैं-"कबीर साहब ने एक ऐसे धर्म की नींव डालनी चाही जिसे दोनों धर्मो के लोग असंकुचित भाव से स्वीकार कर सकें। ऐसा करने के लिए उनको दो बातों की आवश्यकता दिखलाई पड़ी। एक तो इस बात की कि सब लोग उनको एक बहुत बड़ा अवतार या पैगम्बर समझे जिससे उनकी बातों का उन पर प्रभाव पड़े। दूसरे इस बात की कि वे उन धर्म पुस्तकों, धर्म नेताओं और धर्म याजको की ओर से उन लोगों के हृदय में अश्रद्धा, अविश्वास और घृणा उत्पन्न करे जिनके शासन में उस काल में वे लोग थे।"[6]इसके कारण पर विचार

करते हुए लिखते हैं किए "बिना ऐसा हुए उनके उद्देश्य के सफल होने की सम्भावना नहीं थी।"[7]

इसके बाद ही हरिऔध जी कबीर के इन दोनों रणनीतियों के असफल हो जाने का इतिहास लिखते है – "यद्यपि उन्होंने एक महान उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह स्वतन्त्र पथ ग्रहण किया किन्तु मेरा विचार है कि वह उनके महान उद्देश्य के अनुकूलन था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि हिन्दू–मुसलमानों की विभेद सीमा आज भी वैसी ही अचल–अटल है।"[8] अपने इस योजना के असफलता के लिए हरिऔध जी ने कबीर को खुद जिम्मेदार ठहराया है। उनके द्वारा कबीर की उन गलतीयों में जिसके कारण उनका मिशन सफल न हो सका उनमें से एक जो विशेष थी वह असंगत बाते, इसके बारे में उन्होंने लिखा है–" इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता है बुराइयों और कदाचार के साथ भलाइयों और सदाचार की पीठ भी कषाप्रहार से क्षत–विक्षतकर ही जाए। संस्कार का अर्थ संहार नहीं है। जो क्षेत्र संस्कारक खेत की पासों के साथ अन्न के पौधों को भी उखाड़ देना चाहेगा वह संस्कारक नाम का अधिकारी नहीं।"[9]

हरिऔध जी के द्वारा कबीर के प्रति किये गये इस विरोध को विराम न देकर बल्कि इन्हे अपने आलोचना का विशेष पक्ष मानते हुए लिखते है कि कबीर को वेद और कुरान का विरोध नहीं करना चाहिए था। "वेद शास्त्र या कुरान में कुछ ऐसी बातें हो सकती हैं जो किसी के अनुकूल न हो, हिन्दू धर्म के नेताओं

या मुसलामान धर्म के प्रचार को के कई विचार ऐसे हो सकते हैं जो सबकाल में ग्रहीत न हो सकें, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वेद शास्त्र या कुरान में सत्य और उपकारक बातें नहीं है, और हिन्दू एवं मुसलमान धर्म के नेताओं ने जो कुछ कहा वह सब झूठ और अनर्गल कहा, लोगों को धोखे में डाला और उन्हें उन्मार्गगामी बनाया। वेद शास्त्र या कुरान को धर्म पुस्तक न समझा जाए, हिन्दू, मुसलमान धर्माचार्यों को अपना पथ-प्रदर्शक न बनाया जाए, इसमें कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उनके विषय में एसी बातें कहना जो अधिकांश में असंगत हो कदापि उचित नहीं।''[10]

डॉ धर्मवीर का विचार है कि "हरिऔध जी के द्वारा अपने इस टिप्पणी में कुरान का नाम सम्मिलित करने के पीछे सोची समझी चाल है। वेद के साथ कुरान का नाम लेने में हरिऔध जी द्वारा कबीर के साथ लड़ाई में ढाल के रूप में प्रस्तुत किया गया है, अन्यथा उन्हें वेद के मुकाबले में कुरान से कुछ भी लेना-देना नहीं है।"[11]बहुत विश्वास के साथ पूछना चाहते है कि जिस काल में संसार में केवल अज्ञान अन्धकार था, ज्ञान का नामो-निशान नहीं था, उस काल में 'सत्यवद, धर्मचर' आदि वाक्यों की मेघ गम्भीर ध्वनि आखिर कहाँ से हुई थी? और अपने इस गूढ़ प्रश्न का उत्तर हरिऔघ जी स्वयं देते हुए लिखते हैं-''यदि हमारा हृदय कलुषित नहीं है, यदि हममें सत्यप्रियता हे, यदि हम न्याय और विवेक को पददलित नहीं करना चाहते तो हम मुक्त कंठ से कहेंगे पवित्र वेदों से।''[12] अन्ततः अपने इसी उत्तर का गुणगान के साथ लिखते हैं-'' आज इसी ध्वनि

की प्रति ध्वनि संसार में हो रही है, आज इसी ध्वनि का मधुर स्वर सांसारिक समस्त धर्मग्रन्थों में गूँज रहा हैं।"[13]

हरिऔध जी हृदय की कुण्ठित ज्वाला जो कबीर के प्रति थी इतने पर ही शान्त न होकर और आगे इन शब्दों में प्रकट होता हैं-"कदाचार और अपकर्म एक साधारण मनुष्य को भी निन्दित बना देता हैं। फिर धर्म याजकों और धर्म नेताओं को वे निन्दनीय क्यों न बनावेगें ? उनके लिए कदाचारी और कुकर्मी होना और भी लज्जा की बात है क्योंकि जो प्रकाश फैलाने वाला है यदि वही अँधरे में ठोकरें खाकर गिरे तो वह दूसरों के लिए उजाला क्या करेगा? इस प्रकार इन टिप्णीयों से साफ-साफ प्रकट हो जाता है कि कबीर की बुराई करने में हरिऔध जी द्वारा कोई कसर नहीं छोड़ा गया है। इतने पर भी वे इन बुराइयों में कबीर की एक बात भी मानने को तैयार नहीं है। अपने वर्णाश्रम धर्म को सुरक्षित रखते हुए उसकी प्रशंसा में लिखते हैं- "वैदिक धर्म में अधिकारी भेद है, इसलिए यह पात्र के अनुसार ही धर्म की व्यवस्था करता है।"[14]

डॉ धर्मवीर की दृष्टि में हरिऔध जी के उपरोक्त कथनों में यह गम्भीर रूप से विचार करने की बात है कि "कबीर के द्वारा ब्राह्मण को थोड़ी सी बात कह देने पर तो वे असंगत और गैर शालीन बन जाते हैं परन्तु तुलसी दास के द्वारा जब शुद्रों और नारियों को निर्दयी और असभ्य कहकर पशुओं की भाँति पिटवा रहे हैं, तब पर भी वे संगत और शालीन बने रह जाते है? आखिर यह कहा का न्याय है। कबीर के साधु पन्थ को गधी से तुलना करना

और ब्राह्मण को गाय बताकर उसके दुर्गुणों को छिपाते हुए उसकी प्रशंसा में गीत लिखने कहाँ का औचित्य दिखाई देता है ? वास्तविकता यह हैं कि हरिऔध को वह बात जो बहुत खलती और चुभती है जब कबीर कहते है कि ब्रह्मण आज तक किसी के काम नहीं आया। यदि हरिऔध जी भी दलित, शूद्र या नारी होते तो उन्हे वास्तविकता का ठीक तरह से ज्ञान होता।"[15]

हरिऔध जी का यह कथन कबीर के संदर्भ में कितना सत्य है कि उन्होंने जिस मिशन की कल्पना की थी, वह सफल न हो सका ? इसके उत्तर में डॉं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि कबीर के परिप्रेक्ष्य में यह प्रश्न उतना प्रासंगिक नही है कि उनका मिशन कहा तक सफल हो सका। परन्तु फिर भी वह कल्पना निर्थक नहीं गया। इस प्रसंग में वे रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कविता का भवानुवाद करते हुए कहते हैं-"जीवन में जो पूजाएँ पूरी नहीं हो सकी हैं, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलने से पहले ही पृथ्वी पर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठी है, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवन में आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ, वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अधूता है, वे सब तुम्हारी वीणा के तार में बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खे नही गए है।"[16] अन्ततः डॉं द्विवेदी ने यह लिखा है कि "कबीरदास की साधना न तो लोप हो गई है और न कहीं खो गई है।"[17]

यदि कही से कबीर की चिन्तन धारा लुप्त होती हुई दिखाई देती है तो वह स्वयं अयोध्या सिंह उपाध्याय ओर उन जैसे लेखकों की द्विज दृष्टि है। हरिऔध जी ने अपनी पुस्तक 'कबीर वचनावली' में इसके लिखे जाने का उद्देश्य साफ जाहिर कर दिया था जिसको वे एक भूल मानते है। यह पुस्तक विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए लिखी गयी हैं। इसका सम्बोधन ब्राह्मणों को करते हुए वे मनु स्मृति को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि "कबीर का अध्ययन करते समय ब्राह्मणों को चाहिए कि वे सम्मान से विष के समान बचें और अपमान की अमृत के तुल्य इच्छा करें।"[18] और फिर आगे ब्राहम्णों पाठको को हिम्मत बधाँते हुए लिखते है-"कबीर वेद शास्त्र की निन्दा करते हैं हिन्दू महापुरूषों को उन्मार्गगामी बतलाते हैं। हिन्दू धर्म नेताओं की धूल उड़ाते हैं, यह सत्य है। परन्तु उनके पन्थ वालों के साथ आप ऐक्य कैसे स्थापन करेंगे जब तक इन विचारों को न जानेंगे।"[19]

डॉ0 धर्मवीर का कहना है "इतने विरोध के बाद यदि हरिऔध जी कबीर को हिन्दू और उनकी विचार धारा से वेष्णव मानते है तो इसका विकल्प क्या हो सकता है। अयोध्या सिंह की यही ब्राह्मणी दृष्टि इस बात के लिए जिम्मेदार है कि दलित समाज के धर्म की अलग पहचान नहीं बनने दी जाती हैं। जबकि उनका अपना धर्म अलग है, उस धर्म की अलग परिभाषा है, लेकिन हिन्दू लेखक इसे जबरजस्ती अपने में लाना चाहते हैं। इस प्रकार से दलितो द्वारा छेड़े गये धार्मिक विद्रोह के सम्पूर्ण इतिहास को सतह से ही हिन्दूओं

द्वारा अपने में समाहित करने की प्रक्रिया ही कबीर के कल्पित पृथक धर्म की स्थापना में रूकावट और असफलता के कारण है। कबीर को हिन्दू सिद्ध करने के लिए यह अवधारणा तार्किक नही है कि वे ईश्वर को मानते है क्यों कि ईश्वर को ब्राहम्ण, मुसलमान और ईसाई भी मानते है, तो क्या ये सभी हिन्दू होंने के समुदाय में आ जाते है। कबीर को हिन्दू धर्म का खण्डन करने में इसी की भाषा का भी व्यवहार करना पड़ता है और इससे आभास होता है कि वे हिन्दू है परन्तु यथार्थ कुछ और ही है। यदि कबीर के धर्म का गहराई से विवेचन किया जाये तो यह ज्ञात हो सकता है कि उनका यह धर्म इस्लाम और ईसाई धर्म से बढ़कर अहिन्दू हैं। अतः यह कहाँ जा सकता है कि कबीर का वह धर्म जो वेद विरोधी है, जिसमें ब्राह्मणों का कोई स्थान नही है, हिन्दू धर्म कहना विशेष रूप से कबीर के स्वतन्त्र और पृथक धर्म को मिटाने का ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई सुनियोजित योजना ही है।"[20]

वह शिक्षा जो देश और समाज के संर्वागिण विकास में अहम भूमिका निभाने के लिए होती हैं। देश के लिखित धर्मशास्त्रों द्वारा श्रमिक समाज के लोगों के लिए इससे वंचित रखा गया है। यदि इनमें शिक्षा का प्रसार हो तो ये भी अपने अलिखित धर्म को लिखित रूप दे सकते थे। परन्तु ऐसा न होने देने के लिए ही इनको शिक्षा से दूर रखा गया है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि पढ़ने-लिखने और शिक्षित होने का तात्पर्य यह नही है कि वह वेद के पढ़ने और उसके द्वारा ज्ञान अर्जित करने तक ही सीमित है।

कबीर आज के ब्राह्मणवादी आलोचकों दृष्टि में इसीलिए अनपढ़ है क्योंकि उन्होंने गैर-संस्कृत भाषा के सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे व्यक्ति थे और वेद और धार्मिक ग्रन्थों की निन्दा की थी। परन्तु कबीर के साहित्य को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने गहन शिक्षा प्राप्त की थी। उनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया गया था वह पढ़कर और सुनकर नहीं बल्कि, अनुभव और आँखों से देखकर के ही था। यही कारण है कि कबीर आज एक महान युग पुरूष के रूप में अविस्मरणीय है।

समीक्षा : डाँ0 धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के द्वारा कबीर के सन्दर्भ में दिये गये विचार जो द्विज चिन्तक की मानसिकता से परिपूर्ण है को जिस तरह से खण्डन करते हुए अपने तार्किक विचारों को प्रकट करते है, उसमें किसी तरह का पक्षपात नही दिखाई देता है, बल्कि सत्यता पूरी तरह से उभर कर सामने आ जाती है कि तत्कालीन समाज में किस तरह से ब्राह्मणवादी विचारक अपने कुल और मर्यादा के हित के लिए उन्होंने महापुरूषें को भी नहीं छोड़ रखा है।

कबीर जो कि सामान्य पुरूष को कोटि में न रहकर महान पुरूषों की श्रेणी में स्थान प्राप्त कर गये है। जिनके अनुपम कृत से आज भी समाज और राष्ट्र अपने को धन्य मानता आ रहा है। इतना ही नही उन्हें मनुष्य की श्रेणी से ऊपर ईश्वर के तुल्य स्थान प्रदान किया गया है। परन्तु फिर भी द्विज विचारक उनके इस त्याग के बदले में अपने मुख से प्रशंसा और श्रद्धा के दो शब्द भी

न निकाल सके। बल्कि उसमें भी अपने स्वार्थ की गुंजाइश देखने लगे हैं। जहाँ इन्हे कबीर के चिन्तन से कुछ लाभ मिलता है वहाँ उन्हें अपने कुल और समुदाय में सम्मिलित करना चाहते हैं, और जहाँ इनकी वे निन्दा करते है वहा पर ये द्विज विचारक उन्हे जमीन पर लाकर गिरा देते हैं यह इन लोगों की पुरानी आदत रह हैं।

इतना ही नही हरिऔध जी के द्वारा कवियों और लेखकों को भी दो वर्गो में विभजित कर दिया गया है, जिसका प्रमाण यह है कि उनके लेखक जो द्विज समाज से सम्बन्धित है वे किसी भी तरह से अपनी रचनाओं में दलितो को नीचा दिखाते हुए भलाबुरा कहने के हकदार बनें हुए हैं। परन्तु यदि कोई अन्य लेखक या कवि उनके कुल या समाज के बारे में कुछ भी कहना चाहता है जो उनके लिए असंगत हो तो, वह उनकी दृष्टि में अज्ञानी और मूर्ख बन जाता है। यदि यह असंगत नही है तो फिर उनकी दृष्टि में उचित यह है कि समाज में हर दृष्टि से उनके अपने लोगों का ही हित देखा जाय? अगर ये द्विज लोग निम्न कुल में जन्म लेकर निन्दा और अपमान का सामना किये होते तो इन्हे उनके मर्म का कुछ आभास हो सकता था।

शिक्षा जो कि समाज को विकास की ओर ले जाने में विशेष योगदान देता है, दलितो और पिछड़ों को इससे वंचित इसीलिए रखागया है कि कही वह शिक्षित होकर अपने अधिकार की माँग करने लगेगें और उच्चवर्गो के जो हित में न होकर उनके लिए कंटक बन जायेगा। इसीलिए धर्मशास्त्रों के माध्यम से शिक्षा को इनसे दूर

रखने का प्रयास किया गया हैं।

महानयुग पुरूष कबीर के द्वारा ऐसे ही अनेक कुण्ढित और निम्न विचारों के प्रति आजीवन लड़ाई लड़ी गयी है। जिसके परिणाम स्वरूप ही वे मानवता के इतिहास में उच्च शिखर पर स्थान प्राप्त किये है। जहाँ–विरला ही पहुँच सकता हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–62
2. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–पृ0–29–30
3 उर्वशी सूरती, कबीरः जीवन और दर्शन, लाके भारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृ0–188
4. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–63–64
5. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–पृ0–31–32
6. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–56
7. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–56
8. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–60
9. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–61
10. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–61
11. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–पृ0–34
12. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–62
13. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावाली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–67
14. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–71
15. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–पृ0–38
16. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई, तृतीय संस्करण पृ0– 186
17. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुम्बई, तृतीय संस्करण पृ0– 186
18. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–90
19. अयोध्या सिहं उपाध्याय 'हरिऔध', कबीर बचनावली, नागरी प्रचारणी सभा, काशी– 11वां संस्करण, पृ0–89
20. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–पृ0–40

कबीर के आलोचक के रूप में आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का विचार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने आलोचना का लक्ष्य मूलतः यदि किसी को बनाया है तो वह विशेषतः 'कबीर' हैं। उन्होंने कबीर को हिन्दी साहित्य के इतिहास से निर्वाचित कर उन्हें भूलना चाहा है लेकिन ऐसा करके भी उनके आत्मा को शान्ति नहीं मिल पाई। उनके मन में जीवन पर्यन्त यह डर सताता रहा कि कबीर कहीं देश निकाले का समय पूरा करके साहित्य के क्षेत्र में पुनः वापस न आ जाएँ। यह भय कबीर के रूप में उनकी चैन छीन रखी थी। यही कारण है कि 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका लिखते हुए उन्हें पहले जायसी के स्थान पर 'कबीर' का स्मरण हो आया था।

इस भूमिका में उनका सबसे पहला वाक्य है – "सौ वर्ष पूर्व कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थें।"[1] इसी आधार पर वे कबीर की असफलता की घोषणा भी कर देते हैं, जब वे लिखते है –"कबीर की अटपटी वाणी से भी दोनों के दिल साफ न हुए। मनुष्य–मनुष्य के बीच रागात्मक सम्बन्ध है, यह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार में जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी–कभी किया करते है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई।"[2] अगले पृष्ठ पर जायसी की प्रशंसा में वे लिखते हैं– "इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी निष्ठा से कह कर उनके

जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।"[3]

इस उद्धरण से यह ज्ञात हो जाता है कि शुक्ल जी कबीर से क्या अपेक्षा रखना चाहते थे। उनके विचार से कबीर को भी जायसी की तरह हिन्दुओं की प्रशंसा करनी चाहिए थी। कबीर के द्वारा हिन्दुओं में कमियों को प्रकट करना शुक्ल की दृष्टि में कबीर की गलत धारणा थी। उनके मत में कबीर को हिन्दुओं का विरोध न करके उनका गुणगान करना चाहिए था। उनका बहुत साफ कहना है कि कबीर को हिन्दुओं में दीखने वाली बुराइयों की तरफ ध्यान हटा लेनी चाहिए थी। यहाँ ध्यान देने की बात है कि उनकी कबीर से यह अपेक्षा तब है जब वे इसी भूमिका में कुतबन मियाँ की प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं कि "उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया।"[4] मानो उनके मत में मुसलमान के लिए मनुष्य होना कोई असम्भव चीज हो।

शुक्ल ने कबीर की निन्दा करने में अपने मन की घृणा पूरी तरह तब प्रदर्शित की है जब वे जायसी की तुलना में कबीर के पंथ चलने की कोशिश की भर्त्सना करते है। वे इसी भूमिका में लिखते हैं– "जायसी बड़े भावुक भगवद् भक्त थे और उपने समय में बड़े सिद्ध फकीर माने जाते थे, पर कबीर के समान अपना एक 'निराला पंथ' निकालने का हौसला उन्होंने कभी न किया। जिस समाज में उनका जन्म हुआ उसके प्रति अपने विशेष कर्तव्यों के

पालन के साथ-साथ वे सामान्य मनुष्य धर्म के सच्चे अनुयायी थे। कबीरदास के समान उन्होंने अपने को सबसे अधिक पहुँचा हुआ कहीं नहीं कहा है। कबीर ने तो यहाँ तक कह डाला है कि इस चादर को सुर, नर, मुनि सबने ओढ़कर मैली किया, पर मैनें 'ज्यों कि त्यों धर दीनी चदरिया'। इस प्रकार की गर्वोक्तियों से जायसी बहुत दूर थे। उनके भगवत प्रेम पूर्ण मानस में अहंकार के लिए कहीं जगह न थी। प्रत्येक प्रकार का महत्व स्वीकार करने की क्षमता उनमें थीं। ....अपने को सर्वज्ञ मानकर पंडितों और विद्वानों की निन्दा और उपहास करने की प्रवृत्ति उनमें न थी। वे जो कुछ थोड़ा बहुत जानते थें उसे पंडितों का प्रसाद मानते थें।"[5]

अन्त में शुक्ल ने कबीर और जायसी के भेद बताते हुए साफ लिखा है- "कबीर विधि-विरोधी थे और वे विधि पर आस्था रखने वाले, कबीर लोक व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे और वे सम्मान करने वाले।"[6] आचार्य शुक्ल ने कबीर को कवियों की श्रेणी से बाहर निकालने के लिए जायसी को माध्यम के रूप में खड़ा किया है। जबकि यह तथ्य भी विचारणीय है कि दोनों ही मुसलमान थें। ऐसा दिखाई देता है कि आ0 शुकल ने कबीर को उनके विचारों के कारण ही साहित्य निकाला दिया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्होनें जायसी का प्रसंशा के साथ प्रवेश इसलिए होने दिया क्योंकि जायसी ने अपने ग्रन्थारम्भ में पंडितों को नमन किया है। और उन्होंने वेदो का, पुराणो का, और द्विजो को सम्मान किया है। इस तरह शुक्ल की कसौटी साहित्यक मूल्य की न रहकर वैदिक और

धार्मिक मूल्यों की है।

डॉ0 धर्मवीर का कहना है कि "यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि कबीर तत्कालीन पंडितों, पुरोहितों, पुरखों को नमन किस आधार पर करते? जब कबीर के दलित समाज जिसमें पले-बढ़े और सीखे का भला उस समय के हिन्दू और मुसलमान के दोनों पंथों से होने वाला नहीं था तो इस उपेक्षा से ग्रहीत कबीर ने अपना तीसरा पंथ चलाकर कोई गुनाह नहीं किया। जिसमें ऊँच-नीच के भेद-भाव नही था, इस पंथ को स्थापित करने के पीछे कबीर की वह कुण्ठा थी जो समाज के कुलीन वर्गो द्वारा लादी गयी थीं।"[7]

जिस युग में कबीर ने जन्म लिया था हिन्दू धर्म के ग्रन्थों ने धर्म को दो श्रेणियों में बांट रखा था, जो साधारण धर्म और विशेष धर्म के रूप में था। विशेष धर्म का प्रावधान कुलीन और उच्च वर्ग के लिए था जिनमें राजा, पुरोहित, सामन्त आदि लोग थें। और साधारण धर्म में मानने वाले चतुर्थ वर्ग के लोग जिनमें नाई, धोबी, जुलाहा, दलित आदि थे। हिन्दू धर्म के रक्षक चाहते थे कि कबीर छोटी जाति में पैदा होने के कारण उपने साधारण धर्म का ही पालन करें और ब्राह्मणों के विशेष धर्म में आध्यात्मिक दखल न करें। उन्होंने वेदों के अध्ययन के लिए भी अधिकारी भेद खड़ा कर रखा था, ऐसी परिस्थिती में कबीर को विद्या प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं था। ऐसी विषम परिस्थिति में कबीर ने अपने अधिकार के लिए वेद विद्या को उसके ब्राह्मणों समेत उलट कर उन्होंने किसी प्रकार का अन्याय नही किया। जो तत्कालीन परिस्थितियों में राजद्रोह के समान

था।

डॉ0 धर्मवीर कहते हैं "कि जिस लोक व्यवस्था और विधि विधान ने कबीर को जन्म भर अछूत बने रहने का शाप दे रखा था। यदि उसके खिलाफ आत्मरक्षा के लिए उन्होंने आवाज उठाई तो इसमें उन्होंने समाज की ही रक्षा की थी। यथार्थतः कबीर शुक्ल की ब्राह्मणी विचार धारा के कवि कहलाने के लिए ब्राह्मणों के प्रशंसा करने वाले नहीं थें। शुक्ल की इस ब्राह्मणी विचारधारा में जिसमें साधारण धर्म और विशेष धर्म का भेद मौजूद है, जो कबीर की दृष्टि में अनुचित था में कबीर को कविता रचने का मूल अधिकार प्राप्त नहीं था। इस दृष्टिकोण से यदि शुक्ल कबीर को कवि नहीं मानते हैं तो इसमें उनकी धर्म में अधिकारी भेद मानने की प्रवृत्ति शामिल है।"[8]

आचार्य शुक्ल अपने आलोचना के दूसरे आयाम पर कबीर के चिन्तन पक्ष को नकारते हैं इतना ही नहीं उनके काव्य पक्ष को भी नकार देते है। वे कबीर पर नहीं बल्कि उनकी पूरी निर्गुण शाखा पर टिप्पणी करने से कुछ भी कमी नहीं रहने दिया है– "निर्गुण शाखा के कबीर दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, पर प्रेम तत्त्व बिल्कुल सूफियों का है।"[9] यहाँ से चलकर उन्होनें कबीर को पूर्णतया विदेशी काव्य का अनुयायी घोषित करना आरम्भ कर दिया है।

आचार्य शुक्ल के मतानुसार, कबीर में "रहस्य की प्रतृत्ति और ईश्वर को केवल मन के भीतर समझने और ढूँढ़ने की ये दोनों बातें भारतीय भक्ति मार्ग से पूरा मेल खाने वाली नहीं थी।

अवतारवाद के सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठित हो जाने के कारण भारतीय परम्परा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के एकान्त कोने में नहीं। "[10] उनके द्वारा कबीर के रहस्यवाद को सूफियों के प्रभाव से प्रेरित होने के कारण महत्वहीन घोषित कर दिया गया है । इसकी व्याख्या में वे कहते हैं कि कबीर पर इस्लाम के कट्टर एकेश्वरवाद और वेदान्त के मायावाद का रूखा संस्कार था। आचार्य शुक्ल ने निष्कर्ष निकाला है कि "कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक कवि का रहस्यवाद नहीं है। "[11] उन्होंने कबीर को कही का नही छोड़ना चाहा है जब उन्होनें कबीर को विदेशी प्रभाव का व्यक्ति घोषित किया है।

डॉ0 धर्मवीर का मत है कि आचार्य शुक्ल जी के द्वारा कबीर पर विदेशी प्रभाव सिद्ध करना पूर्णतः निराधार और कुण्ठित भावना से ज्यादा कुछ नही है। जहाँ तक ज्ञान की बात है ज्ञान कहीं से भी सीखा जा सकता है। भारत पर विदेशी आक्रमण इसीलिए हुए थे ताकि यह देश अपनी कमजोर सामाजिक विचारधारा से बाहर आए। यदि विदेशी आक्रमण से हिन्दुओं ने इतना भी नहीं सीखा तो इतिहास द्वारा इस्लाम और ईसाइयत के दो महत्वपूर्ण पढ़ाए गए पाठ मानों इनके लिए बेकार गये। इसका तात्पर्य यह है कि इनका सामाजिक अहंकार अभी भी नहीं टूटा है और उनकी अगली गुलामी के अवसर खुले हुए हैं।"[12]

आचार्य शुक्ल कबीर को अपने साहित्यिक सिद्धान्त से कितने भी विदेशी सिद्ध करते रहें, परन्तु हिन्दुस्तान के गरीब लोग

जानते हैं कि कबीर उनके थे। कबीर ने पचासी प्रतिशत देशी जनता का प्रतिनिधित्व किया था। और ये जनता कबीर के नीतिगत विचारों से पूर्णतः सहमत होकर उन्हें अपना आराध्य मान लिया था। केवल पन्द्रह प्रतिशत द्विजों का नेतृत्व करके तुलसी कबीर से ज्यादा भारतीय नहीं हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ तक स्वदेशी और विदेशी का आकलन किया जाय तो कबीर द्विज कवियों के मुकाबले में सबसे अधिक भारतीय है। कबीर ने शास्त्र की मर्यादा को नहीं बल्कि जनता कके दर्द को पहचाना था जिससे हजारों शास्त्र पैदा हुआ करते हैं। इतना ही नहीं कबीर ने अपने भारतीयों समेत इस समाज की सबसे जटील और न्याय की लड़ाई लड़ी।

समीक्षाः—

डॉ0 धर्मवीर ने आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत किये गये कबीर के संदर्भ में ब्राह्मणवादी विचारधारणाओं को तर्क के माध्यम से खण्डन करते हुए जिस तरह से वास्तविकता को प्रकट किया है। उसमें सत्यता पूर्ण रूप से समाहित हैं। क्योंकि आचार्य शुक्ल के दृष्टि में कबीर महापुरूष और समाज सुधारक नहीं हो सकते है। बल्कि इतिहास में, समाज में दलितों और दुःखियों के लिए महापुरूष से श्रेष्ठ ईश्वर के तुल्य हो सकते हैं। वे दलित और निम्नकुल में पले और बढ़े थे, और इसलिए उनकी विचार भावना सदैव इन्ही के कल्याण और उद्धार के सन्दर्भ में प्रकट होती थी। इससे हटकर यदि कबीर भी उच्च कुल में जन्म लेकर, वेद और पुराण से प्रतिपादित

होकर, ब्राह्मणों और कुलीनों की बढ़ा चढ़ाकर प्रसंशा और गुणगान करते तो आचार्य शुक्ल के लिए कबीर से बढ़कर विद्वान और युग पुरूष कोई नहीं हो सकता था। परन्तु विधाता ने उन्हें कुद और श्रेष्ठ कार्य करने के लिए अलग ही बनाकर भेजा था।

वस्तुतः कबीर के लिए सबसे कठीन कार्य यह था। कि वे अकेले ही किस तरह से ब्राह्मणवादी और द्विग विचारकों से संघर्ष करें। क्योंकि तत्कालीन समय में अधिकतर निम्न जाति के लोग अनपढ़ और अज्ञानी थे ? वे अपनी अज्ञानता के कारण किस तरह उनके विचारों का तार्किक खण्डन करके अपने मूल्य और अधिकार की माँग कर सकते थे ? कबीर को इन विषम परिस्थितियों से संघर्ष करना था। और इसके लिए वे पूरी निष्ठा के साथ तत्पर भी थे।

कबीर दास अपने को इस सामाजिक कुरीतियों के महासमर में 'अध्यात्म' को ढाल बनाकर 'प्रेम' और 'भक्ति' रूपी शस्त्र के सहारे एक योद्धा के रूप में खड़ा किया, और इसी भक्ति और प्रेम के माध्यम से विजय श्री भी प्राप्त किया था। उनकी भक्ति में निर्गुण का विशेष महत्व इसलिए है कि इसमें पाखण्ड और दिखावा नहीं था। जो सर्व साधारण के लिए सुलभ हो सकता था, और इस भक्ति में 'भावना' का विशेष महत्व उन्होंने दर्शाया है। उनकी दृष्टि में बिना 'भावना' के किसी भी कार्य को पूरी निष्ठा के साथ नही किया जा सकता है।

कबीर दास निम्न कुल में पैदा हुए है, जुलाहागिरी उनकी पेशा है, यह सब भी ब्राह्मणवादी विचाराकों की दृष्टि में श्रेष्ठ

और स्वीकार हो सकता था। यदि वे वेद और पुराणों में प्रतिपादित विचारों और कर्म काण्डों की अपने मुख से प्रशंसा भरे शब्दो को समाज के समक्ष प्रस्तुत करते, तो आज कबीर द्विज विचारकों की दृष्टि में कहीं और पहुँच सकते थे। क्योंकि जायसी मुसलमान होकर भी आचार्य शुक्ल के लिए प्रशंसा के पात्र इसीलिए बने हुए हैं कि उन्होंने ब्राह्मणों का गुणगान किया है। और अपने रचनाओं के आरम्भ में ही ब्राह्मणों के प्रति आदर और सम्मान प्रकट किया है। इसीलिए जायसी इन ब्राह्मणवादी विचारकों की दृष्टि में कबीर से भी बढ़कर उच्च स्थान प्राप्त करने योग्य बन गये हैं।

परन्तु कबीर दास अन्याय को न्याय मानकर असत्य को सत्य मानक झूठी प्रशंसा करने वालों में नहीं थे। जिस समाज में असमानता और ऊँच–नीच, छुआ–छूत, पाखण्ड, आडम्बर पूरी तरह से व्याप्त हो, और इसके संचालक और नेतृत्व कर्ता कुलीन और उच्च वर्ग के लोग हो, तो उनकी प्रशंसा कबीर कैसे कर सकते थें। इसी न्याय और अधिकार की लड़ाई के लिए ही उन्होंने अपने को जीवन भर के लिए समर्पित कर दिया था। जब उनके द्वारा, पाखण्ड और आडम्बर से परिपूर्ण पूजा–पाठ को समाजिक दृष्टि से गलत और अनुचित सिद्ध किया गया और निर्गुण निराकर भक्ति पर बल दिया गया तो उन पर ब्राह्मणवादी विचारको के द्वारा सूफिये के रहस्यवाद और इस्लाम के एकेश्वरवाद का समर्थक कहकर विदेशी प्रभाव का व्यक्ति घेषित कर दिया है।

परन्तु यर्थाथता इन ब्राह्मणवादी विचारकों के दुष्प्रचार से

प्रकट नहीं हो सकती है। यह तो गरीब और निरीह जनता ही जान सकती है कि कबीर उनके हृदय में कितने विदेशी थे, और कितने स्वदेशी। कबीर जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन गरीब दलितों और दुःखियों के दर्द को बाँटने के लिए उन्हें जो अधिकार चाहिए वह दिलाने के लिए समर्पित कर दिया है। कबीर उनके लिए किस तरह से विदेशी हो सकते हैं? इस प्रकार से द्विज विचारक हर तरह से कबीर को नीचा दिखाने का प्रयास करते आये हैं। परन्तु वे अन्ततः निष्फल होकर रह जाते हैं। यह कबीर की महिमा की प्रतिभा थी जिसके सामने सभी को मुँह की खानी पड़ी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 1
2. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 1
3. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 2
4. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 2
5. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 8
6 सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 8
7. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-70
8. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-70
9. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 120
10. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 120-21
11. सं० आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 17वां संस्करण, पृ0- 121
12. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-71

कबीर की आलोचक के रूप में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को यह पूर्णतः अवगत हो गया था कि कबीरदास भारतीय समाज और दर्शन में द्विजों के लिए खतरनाक विस्फोट है। और कबीर का चिन्तन आग की तरह ज्वलनशील हैं। इसके सामने वेद और ब्राह्मण वाद जीवित न रहकर भस्म हो जाते हैं। कबीर के इस चिन्तन से कैसे संघर्ष किया जाय? उनके लिए यह एक चिन्ता का विषय बन गया था। इस लड़ाई के लिए अनेक तरह के रास्ते अपनाए। लेकिन डॉ 'हजारी प्रसाद द्विवेदी' ने इससे हटकर कबीर के चिन्तन से लड़ने का एक अलग रास्ता अपनाया। उन्होंने इस मध्यकालीन वेद और ब्राह्मणवाद विरोधी को मूल जड़ से ही समाप्त करने का प्रयास किया है। इसके लिए वे प्रत्यक्ष टकराहट के बजाय भीतर से निस्तेज और निष्प्रभावी करने का रास्ता चुना हैं। उन्होंने कबीर को ऐसे रूप में ढाल दिया है कि अब वेद कबीर के हृदय की आग में नहीं जलेंगे और ब्राह्मणवाद कबीर के तेज के सामने अन्धा नहीं हो जाएगा, उनकी व्याख्या की वजह से वेद और ब्राह्मणवाद कबीर की आग और चकाचौंध में भी अपना प्रभुत्व बनाये रहेंगें।

डॉ. हजारी प्रसार द्विवेदी ने अपने से पहले के कबीर साहित्य के विद्वानों की आलोचना करते हुए लिखते हैं – "ऊपर–ऊपर सतह पर चक्कर काटने वाले समुंद्र भले ही पार कर जाएँ पर उसकी गहराई की राह नहीं पा सकते । इन पंक्तियों का लेखक अपने को

सतह का चक्कर काटने वालों में विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदास के पदों में जो महान प्रकाश पुंज है वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है वह म्यूजियम की चीज नहीं है बल्कि जीवित प्राणवान वस्तु है।"[1] इतना ही नहीं बल्कि डॉ. द्विवेदी अपने से पहले के और अपने बाद में आने वाले सभी लेखकों के बारे में एक समान आलोचना यह लिख कर गये है कि, "कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं और भी लिखी जाएँगी पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों।"[2] इसके बाद उन्होंने चेतावनी के रूप में यह भी लिख दिया कि "कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे में गोता लगाने वाला ही समझ सकता है।"[3]

डॉ0 धरमवीर का मानना है कि "डॉ0 दिवेदी की उपरोक्त पंक्तियों के अध्ययन से लगता है मानों उन्होंने बहुत ही यथार्थ बात कह दी हो पर पूछा जाए कि कबीर का दर्शन उनके लिए असम्भव क्यों है? जो दर्शन अनपढ़ और साधारण आदमी के जुबान पर भी है। इसके पीछे कहीं ऐसा तो नहीं है कि डॉ. द्विवेदी कबीरदास के दर्शन को संज्ञान में दुरूह और दुर्बोध कह रहे हों? यह सोचने की बात है कि जो साहित्य अपने समय की जनवाणी में लिखा गया हो और वह साहित्य विद्वानों के लिए समझने योग्य न हो। यह तथ्य भी अपने आप में हटकर है कि विद्वान लोग एक अनपढ़ कहे जाने वाले व्यक्ति की भाषा नहीं समझते। यह कैसी विद्वता है जो अनपढ़ से ले कर पढ़े-लिखे तक नहीं जाती बल्कि पढ़े-लिखे से पढ़े-लिखे

तक जाती हैं। दुःख की बात है कि इस भारतीय समाज में निरक्षर और साक्षर के बीच में कभी पुल नहीं बाँधा गया। यहाँ निरक्षर को साक्षर करने की कोशिश नहीं की गई। निरक्षर अपनी परम्परा में निरक्षर रहे हैं और विद्वान अपनी परम्परा में विद्वान रहते चले आए हैं। यही कारण है कि यदि डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की विद्वता उच्च न होकर कबीर जैसे अनपढ़ों के ज्ञान को समेटती हुई होती तो वे कबीर की वाणी को इतनी दुरूह नहीं कह पाते जितनी उसे कह गये हैं।"[4]

इसी सन्दर्भ में पुनः यह जानना आवश्यक है कि डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए कबीर का चिन्तन दुरूह क्यों है? कहीं ऐसा तो नही कि डॉ० द्विवेदी के ब्राह्मण के घर में जन्म लेने के कारण उन्हें कबीर जुलाहे के घर की भाषा अजनबी लगती हो। लेकिन इस अज्ञानता का एक दूसरा कारण डॉ० द्विवेदी की धार्मिक हठधर्मिता भी हो सकता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि कबीर किसी बात को साफ-साफ कहना चाहते है परन्तु डॉ० द्विवेदी का ब्राह्मण उसे साफ-साफ न समझना चाह रहा हो। खुद कबीर को भी इस बात का आभास था जब उन्होंने ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए कहा है कि - "मैं कहता सुरझावन हारी तू रहता उर झाई।"[5] क्या यथार्थ में कबीर के सामने डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी इसी प्रकार के ब्राह्मण तो नहीं है?

डॉ० धर्मवीर के मत से "कबीर जो कहते हैं डॉ० द्विवेदी उस बात को उसी तरह से नही लेते। वे इसमें अपनी ब्राह्मणी

दृष्टि लगाते हैं। कबीर को समझने के लिए एक कबीरी दर्पण है। लेकिन वे उस दर्पण को हटा कर ब्राह्मणी दृष्टि से कबीर को देखना चाहते है। फलतः उनके लिए कबीर एकदम दुर्बोध हो जाते हैं। जैसा कि कबीर वेद विरोध करते हैं लेकिन डॉ0 द्विवेदी को सिद्ध करना है कि वे वेदमत के समर्थक थे, कबीर पुराण और मूर्ति पूजा के विरोधी हैं लेकिन डॉ0 द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि कबीर का दर्शन पुराणों से ही निकला है। कबीर रामानन्द को अपना गुरू नहीं मानते लेकिन डॉ0 द्विवेदी को यह दर्शाना है कि कबीर के गुरू रामानन्द थे। यदि डॉ0 द्विवेदी वेद, पुराण और रामानन्द के विचार दृष्टि के बिना समझना चाहते तो कबीर उनके लिए दुर्बोध नहीं रह जाते।"[6]

एक आलोचक की दृष्टि से डॉ0 द्विवेदी का कबीर के परिप्रेक्ष्य में तर्क की शैली इस प्रकार है कि जहाँ तक सम्भव हो सके कबीर की पौराणिक और शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की जाये और जब न बन सके तो कबीर को नीचे गिरा दिया जाये। इस तरह से कबीर की प्रशंसा में वे कबीर की प्रशंसा न करके अपने शास्त्रों और पुराणों की ही प्रशंसा करते हैं और इतने पर भी कबीर की निंदा में वे केवल कबीर की निंदा करते हैं। ऐसी परिस्थिति में वे अपने शास्त्रों और पुराणों को अलग बचा ले जाते हैं। खुद कबीर की भाषा के बारे में उनका कथन देखा जा सकता है। वे लिखते हैं –"कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है उनके लिए कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना नहीं है और

जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रम से वह भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती हैं। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था।"[7] उन्होंने लिखा है– "काव्यगत–रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल।"[8]

डॉ० धर्मवीर का मत है कि "इस टिप्पणी में भी डॉ० द्विवेदी आलोचना की दृष्टि से दो निर्णय देना चाहा है। वे हर कदम पर दोहरी चाल चलते हैं। उनका कहना है कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नहीं किया था और वे काव्य के नियमों के जानकार नहीं थे। उनके ये दोनों ही तथ्य झूठ हो सकते हैं उन्हें इसका अनुमान नहीं है। क्या डॉ० द्विवेदी को ऐसा नही लगता कि कबीर जैसे व्यक्ति ने भाषा का और छन्दों का चुनाव विचार के साथ किया होगा? इस सन्दर्भ में यह कहा जाय तुलसीदास ने रामचरित मानस अवधी में लिखी है इसका अर्थ यह नही हो जाता है कि उन्हें संस्कृत या व्रजभाषा का ज्ञान नहीं था। कबीर के बारे में गलत अवधारणा प्रचारित की गई है कि वे शास्त्रीय भाषा के जानकार नहीं थे और उन्हें काव्य के नियमों का ज्ञान नहीं था परन्तु सत्यता कुछ और ही है।"[9]

डॉ० द्विवेदी पुराणों को लेकर कबीर के संदर्भ अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते है–"कबीरदास पौराणिक कथाओं के थोड़े–बहुत जानकार थे पर तत्त्ववाद के कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे।"[3] यह उनका पूरा उलझन भरा वाक्य है। असल में, वे

इस प्रकार की भाषा शैली का प्रयोग करके कबीर को पौराणिकता के घेरे में लाना चाहते हैं। वे एक कबीर को ही नहीं, बल्कि सारे साधकों और दार्शनिकों के बारे में एक सामान्य टिप्पणी लिख रहे हैं –"भारत वर्ष की जलवायु में ही कुछ ऐसा गुण है कि यहाँ के साधक और पंडित समस्त प्रचलित पौराणिक परम्परा को स्वीकार करते हैं; अपने विशेष मत की पुष्टि के लिए उससे संगति बैठाते हैं और अपने उपास्य देव को सबके सिर पर बैठा देते हैं।"[11] पुनः एक बार उन्होंने पुराणों को कबीर के मत्थे जबरदस्ती रखते हुए लिखते हैं – "जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किए हम परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्व नियन्ता का तो परिचय प्राप्त करना चाहता है किन्तु यह नहीं जानता है कि विश्व क्या है? पुराण सगुण पथ का पथिक बनाकर निर्गुण की प्राप्ति कराते हैं किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेक के साथ, यही कारण है कि मुख से निर्गुणवाद का गीत गाने वाले भी अन्त में पुराण शैली की परिधि के अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहें कबीर साहब हों अथवा पन्द्रहवीं सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्ग प्रदर्शक गुप्त रूप से पुराण ही है। "[12]

उपरोक्त टिप्पणी में डॉ० द्विवेदी ने कबीर के दर्शन पर जबरन पौराणिकता लादने का प्रयास किया है। यह एक प्रकार से ब्राह्मणी दर्शन की मान न मान मैं तेरामेहमान- बात हो गई है। इसमें डॉ० द्विवेदी ने पढ़-लिख कर ब्राह्मणी विद्वान होने की अपनी अहमीयत प्रकट करने की कोशिश की है। यह कम पढ़े-लिखे और

भोले लोगों को गुमराह करने वाली धारणा है। उन्होंने इससे भी आगे लिखा है – "विचारणीय यह है : कबीरदास के उन पदों का जिनमें उन्होंने 'बार-बार' "दशरथ सुत तिहुँ लोक बरवाना। रामनाम का मरम है आना।" जैसी बाते कह-कह पुराण प्रतिपादित सगुण ब्रह्म का व्याख्या करना चाहा है क्या वास्तविक रूप से ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है कि मुँह से विरोध प्रकट करने पर भी कबीरदास यथार्थ में पुराण विरोधी नहीं थें।"[13]

डॉ0 धर्मवीर का मनना है कि "डॉ0 द्विवेदी के इस प्रश्न में सीमा पार करने का प्रयास किया गया हैं। कबीर को डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के सामने 'दशरथसुत' का विरोध किया है इसलिए तुमनें उसका पक्ष लिया है। मानो डॉ0 द्विवेदी के लिए दिन और रात में कोई फर्क नहीं हैं वे 'दशरथसुत' के विरोध में कबीर की जुबान नही खुलने दे रहे हैं। क्या कबीर डॉ0 द्विवेदी से पूछ सकते हैं कि वे 'दशरथसुत' का विरोध और कैसे, और किस भाषा में करें। इसे यथार्थतः पोथियों की पौराणिक 'डिक्टेटरी' कह सकते हैं।"[14]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' को केवल पौराणिक तक ही न रहने दिया है बल्कि उनके द्वारा कबीर को एक मूर्ति पूजक के रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। वे कबीर के मूल्यांकन में लिखते हैं-"मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्ति वाला तत्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्यव्याख्या का उल्लेख उनके ग्रन्थ में पाया जाए।"[15] डॉ0 द्विवेदी के इस उल्लेख का तात्पर्य यह

है कि कबीर को अशिक्षित होंने के कारण पुराण पढ़ने का मौका नहीं मिला नहीं तो वे पुराणभक्ति और पूरी तरह से मूर्ति पूजक बन जाते। डॉ0 द्विवेदी को कबीर का दार्शनिक चिन्तन मूर्ति पूजा की ओर गया हुआ दीखता है। इस प्रकार से डॉ0 द्विवेदी कबीर के चिन्तन को शास्त्र सम्मत दिखाते हुए उन्हें रामानन्द से जोड़ देते हैं।

कबीर के परिप्रेक्ष्य में रामान्नद एक ऐसा जाल है जिससे हर पौराणिक विद्वान शिकार हुआ है। पुनः लिखते हैं– "हम तो दृढ़ता के साथ कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भक्ति और भगवद्‌भावना में न तो युक्ति से विरोध है और न शास्त्र से। कहीं जो विरोध दीखता है तो उसका ऐतिहासिक कारण है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योग मार्ग की ओर झुके हुए थें। उनके कुल में और कुल–गुरू परम्परा में वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बाद में उनका समागम् प्रभाव में आने के पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत से पद लिखे हों जिनमें योग सम्प्रदाय की परम्परा प्राप्त अक्खड़ता परिलक्षित होती हो और भक्ति रस का लेश भी न हो।"[16]

डॉ0 द्विवेदी ने उपरोक्त कथन में एक तीर से कई शिकार एक साथ किए हैं। इन निर्णयों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत हो जाता है कि ये निर्णय जल्दी में नहीं निकाले गए हैं। और डॉ0 द्विवेदी ने इस जनश्रुति में शंका भी करने की कोशिश नहीं की कि रामानन्द कबीर के गुरू थे। बल्कि उन्होनें इस पर विश्वास की मुहर लगाते हुए लिखा है – "इस विषय में उन लोगों को भले ही संदेह हो जो कबीरदास के नाम पर उल्टा सीधा मत चलाना चाहते

हों, स्वयं कबीरदास को कोई संशय नहीं था"[17] कि उनके गुरू रामानन्द थे, ऐसा लिखकर डॉ0 द्विवेदी ने ब्राह्मणवादी मन को सांत्वना दिया है।

डॉ0 द्विवेदी का ब्राह्मणवादी मन कबीर को पूर्णतः वहिष्कृत करते हुए लिखता है- "क्या हुआ जो रामानन्द ब्राह्मण थे और कबीरदास जुलाहे, क्या हुआ जो वे काशी के आचार्य थे और कबीर कमीनी जाति के 'बन्दे'? प्रेम दूरी नहीं जानता, भेद नहीं जानता, जाति नही मानत, कुछ नहीं देखता।"[18] यहाँ ध्यान देने की बात है कि इस उद्धरण में कबीर को पुनः नीचा दिखाया गया है, और फिर डॉ0 द्विवेदी कबीर और रामानन्द के सम्बन्ध का काव्यात्मक गुणगान करने लगते हैं- "धन्य हैं वे गुरू, वे सचमुच उस भ्रमरी के समान हैं जो निरन्तरध्यान का अभ्यास करा कर कीट को भी भ्रमरी बना देती हैं। कीड़ा भ्रमरी हो गया नई पाँखे फूट आई, नया रंग छा गया नई शक्ति स्फुटित हुई। उन्होनें जाति नहीं देखी कुल नहीं विचारा। अपने आप में मिला लिया। नाले का पानी गंगा में जाकर गंगा हो जाता है, कबीर भी गुरू में मिलकर तद्रूप हो गये। "[19]

डॉ0 धर्मवीर का कथन है कि "डॉ0 द्विवेदी को कबीर के रूप में प्रस्तुत करने से उनके पौराणिक ब्राह्मणवाद का बड़ा लाभ हुआ है। वे अपने हृदय की ज्वाला को शान्त करने के लिए कबीर की बुराई करते जाते है कि कबीर नीच कुल का कमीनी जाति का और गन्दे नाले का पानी थे। वहीं दूसरी ओर वे रामानन्द की प्रशंसा करते चले जाते हैं कि वे ब्राह्मण थे, उच्चकुल के थे, और पवित्र गंगा

जल थे। रामानन्द के द्वारा कबीर को अपना शिष्य बनाना रामानन्द की ही महानता है। इसका अर्थ यही हुआ कि कबीर में जो कुछ अच्छा है वह रामानन्द की कृपा से है और जो नहीं है वह उनके नीच कुल में जन्म लेने के कारण है। यथार्थतः डॉ0 द्विवेदी ने कबीर की लड़ाई को एकदम उलटकर रख दिया है। जबकि कबीर की लड़ाई भी दुनिया में यदि कोई कपटी, घृणा करने वाला और घमण्डी व्यक्ति के प्रति थी और उनकी दृष्टि में ये सभी अवगुण ब्राह्मण में हैं। कबीर की दृष्टि में यदि कुछ सीखना है तो वह केवल ब्राह्मण को सीखना हैं वे ब्राह्मण द्वारा की गई भगवान की भक्ति को भी छल मानते हैं क्योंकि उसमें भगवान के बन्दों से प्यार नहीं है।"[20]

अगर कबीर और रामानन्द के ज्ञान तत्त्वों ने भिन्नता की बात है तो उसे डॉ0 द्विवेदी रहस्यात्मक वस्तु बताकर छोड़ देते हैं। वे लिखते हैं- "सभी परम्पराएँ इस बात का समर्थन करती हैं कि कबीरदास का रामानन्द के साथ सम्बन्ध था। कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है कि रामानन्द ने उन्हें चेताया था पर क्या चेताया था और स्वयं क्या चेते हुए थे इस विषय में नाना मुनियों के नाना मत है।"[21] इस सम्बन्ध को परम्परा बताकर मूल प्रश्न को नहीं उठाना चाहते है। जो यथार्थ की समस्याएँ, जिसके कारण कबीर को नीच कुल से सम्बन्धित होना पड़ा और उन्हें मूलतः भक्त तक ही सीमित होना पड़ा है।

कबीर के आलोचना के सन्दर्भ में अब तक डॉ0 द्विवेदी की उस मुख्य बात का चर्चा नहीं किया गया है जिसमें उनके द्वारा

कबीर को निस्तेज, और निष्प्रभावी किया गया हैं। डा0 द्विवेदी के इस मूल अवधारणा को समझना ही इस समीक्षा का एक मूल उद्देश्य है। यह भी नहीं है कि डॉ0 द्विवेदी ने कबीर के लक्ष्य को विचलित करने के लिए यह रास्ता अनजान में अपनाया हों, परन्तु ऐसा नहीं है कि वे यह पूरी तरह जानते हैं कि कबीर के चिन्तन में वेद-विरोध का कितना तार्किक तत्त्व विद्यमान हैं। उन्होंने सब कुछ संज्ञान में लिखा है। कबीर पर की गई समीक्षा उनके द्वारा पूर्णतः सोच समझ कर की गई है।

उन्होर्नें लिखा है-"कबीरदास का रास्ता उलटा था। उन्हें सौभाग्यवश संयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते थे वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु नहीं थे, वे कुछ भगवान की ओर से सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे।"[22] वे इसी क्रम में आगे लिखते हैं - "कबीरदास ने अपनी प्रेम-भक्ति-मूला साधना का आरम्भ एक दम दूसरे किनारे से किया था। यह किनारा सगुण उपासकों के किनारे से ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण उपासकों ने सब कुछ मान लिया था, कबीर ने सब कुछ छोड़ दिया था।"[23] डॉ0 द्विवेदी के द्वारा कबीर को हिन्दुओं की सगुण उपासना का बार-बार विरोध प्रकट किया गया है। वे आगे और लिखते हैं कि कबीर ने - "समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकारी भेद की कल्पना करके इनके लिए भी दुनिया

के मान–सम्मान की व्यवस्था कर जाने को उन्होंने बेकार परिश्रम समझा।"[24]

डॉ0 धर्मवीर का कहना है कि "यहाँ पर डॉ0 द्विवेदी की इस कथन में सत्यता के अंश जरूर है कि कबीर सबसे न्यारे बन कर आये थे। परन्तु इस सत्यता में यह झूठ भी साथ में है कि वैष्णव होते हुए भी और योगी होते हुए भी वास्तव में कबीर न वैष्णव थे और न योगी थे। लेकिन डॉ0 द्विवेदी ने कबीर को भक्त कह कर उन्हें चेतना विहीन कर देते हैं। कबीर को भक्त कहने में गुनाह न था परन्तु उन्होंने कबीर को समाज सुधार के विरोधी के रूप में और उससे भिन्नता प्रकट करते हुए कबीर को भक्त कहा है।"[25] डॉ0 द्विवेदी कबीर के बारे मे लिखते हैं – "वे मूलतः भक्त थें, भगवान पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े।"[26]

इस प्रकार से कबीर को समाज सुधार का विरोधी सिद्ध करने क लिए डॉ0 द्विवेदी ने अपने अनेक तर्क भी खड़े कर लिए हैं। उनके द्वारा कबीर के समाज सुधार के पक्ष में न होने देने के लिए कारणों को खोजते हुए लिखा है – "शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुनने वाला न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकार कर कह उठते : "अपनी राह तू चले कबीरा" अपनी राह अर्थात

धर्म, जाति–कुल, सम्प्रदाय और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षी कृत है।"[27]

डॉ० द्विवेदी के द्वारा कबीर के इस भक्त रूप को बार–बार प्रकट करते हुए पुनः लिखते हैं– "कबीरदास का यह भक्त रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द–गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे है।"[28] उन्होंने बताया है कि "इस भक्ति या भगवान के प्रति अहेतुक अनुराग की बात कहते हुए समय उन्हें ऐसी बहुत सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं है पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक है।"[29] उनके द्वारा कबीर को केवल एक भक्त के रूप में महत्व देते हुए आगे लिखते हैं – "फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है। ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार का व्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है, बाई प्रोडक्ट है, वह कोलतार की भाँति और चीजों को बनाते–बनाते अपने आप बन गया है।"[30] यहाँ पर डॉ० द्विवेदी ने इसी फोकट का माल, और कोलतार की चपेट में कबीर के समाज सुधार को भी ले लिया है। वास्तविक रूप से कबीर के द्वारा अपने जीवन की साधना में जो मूल उद्देश्य लेकर चले थें, उसे न प्रकट करके मात्र अपने लाभ के पक्षों को डॉ० द्विवेदी ने लाकर खड़ा कर दिया है।

उन्होंने कबीर के आलोचना में कबीर को घोर व्यष्टिवादी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। कबीर साहित्य के साधना में समाज के समक्ष जो थे उसे न दिखाकर बल्कि उन्हें कुछ और ही दिखाने की भावना से डॉ० द्विवेदी ने अपनी मूल धारणा दृढ़ कर

लिया था, और इस आशय से वे कबीर की मूलवृत्ति को ही बदल देना चाहते हैं। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक चेतना को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं-"कबीर ने ऐसी बहुत सी बाते कही है जिनसे समाज सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसीलिए उनको समाज सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नही था। वे व्यष्टिवादी थे।"[31] इस कथन में डॉ0 द्विवेदी ने न केवल कबीर को समाज सुधारक मानने वाले लेखकों पर आक्रमण किया है बल्कि कबीर के चिन्तन को अपने अनुरूप प्रस्तुत करके संतोष किया है। वे उन लेखकों के विचारों का जिन्होंने यह माना था कि कबीर ने एक नया पंथ खड़ा किया था पूर्णतः खण्डन किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में कबीर ने कोई पंथ नहीं बनाया था। डॉ0 द्विवेदी लिखते है- "सम्प्रदाय प्रतिष्ठा के भी कबीरदास विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्तक मानने में गौरव अनुभव करते है।"[32] यहाँ पर डॉ0 द्विवेदी ने कबीर को किसी भी तरह से सुरक्षित छोड़ते हुए अपने बुद्धि चातुर्य से कबीर को मिट्टी में मिला देना चाहा है।

डॉ0 धर्मवीर का कथन है कि "वास्तविक रूप से देखा जाय तो डॉ0 द्विवेदी ने कबीर को इस रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत करके एसी गलती की है जो क्षमा करने योग्य नहीं है। ऐसे पौराणिक लेखकों की यह आज की गलती नहीं है, इन्होनें दलित

चिन्तन को समूल नष्ट करने का यह खेल पिछले कई हजार वर्षों से शुरू कर रखा है। जो कबीर के साथ घटित हुआ है वह एक परम्परा है, और यह कबीर के साथ ही न होकर बल्कि अन्य सन्तों के साथ भी यही हुआ है। यह देखने योग्य है कि किस प्रकार ब्राह्मणवादी लेखकों ने कबीर के चिन्तन पर चक्रव्यूह बनाकर संघर्ष छेड़ रखा है। देखने पर ऐसा लगता है कि इन्होंने आपस में एक दूसरे के मतों का खण्डन किया है, परन्तु सारे हिन्दू लेखक कबीर को मारने में एक-दूसरे के सहयोगी है।"[33]

ब्राह्मणवादी लेखक अपेन बुद्धि का किस प्रकार से प्रयोग करता है, यह देखते ही बन रहा है, दूसरों के लिए कितना भ्रम फैलाता है, और हर तरह से सबसे ऊपर अपने को बनाये रखता है। वह प्रत्येक अच्छी-बुरी बौद्धिक चर्चाएँ करेगा और अन्ततः घूम-फिर कर स्वधर्म और अधिकारी भेद पर ही आकर रुकेगा। डॉ० द्विवेदी किस प्रकार गीता के स्वर में स्वर मिलाकर कह रहें है कि व्यक्ति को स्वधर्म की मर्यादाओं में रहना चाहिए और दूसरे लोगों की नकल नहीं करनी चाहिए। डॉ० द्विवेदी के लिए कबीर एक महान पुरुष होते यदि वे अपने पैतृक पेशे (जुलाहागीरी) को करते हुए, ब्राह्मणवादी चिन्तन का समर्थन करते।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर की प्रशंसा में इस तरह के शब्द लिखते हैं, "ऐसे थे कबीर.......जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय।"[34] डॉ० धर्मवीर के मत से "यहाँ पर डॉ० द्विवेदी द्वारा कबीर के लिए प्रयोग किये गये वाक्यों में इससे बढ़कर और घृणीत

वाक्य नही हो सकता हैं अपने इस उद्धरण में उन्होनें कबीर को जन्म से ही अस्पृश्य माना है और यही कबीर के मनुष्य की सारे जीवन की लड़ाई रही कि वे जन्म से अस्पृश्य नहीं है। वे इसी बात को लेकर जीवन पर्यन्त संघर्ष किया कि कोई मनुष्य जन्म से अछूत नही होता, लेकिन डॉ0 द्विवेदी के ब्राह्मणवादी मन कबीर के विचारों से कैसे समझौता कर सकता है। जो कि उनके अपने हित में नहीं है।"[35]

अन्ततः इस समीक्षा में यह देखा जा सकता है कि डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को जो वास्तविक रूप से है समझ कर भी समझना नहीं चाहा। उनका मुख्य लक्ष्य कबीर को समझने का नहीं था, बल्कि वह कुछ और ही था, वह कबीर को अपने पौराणिक समुदाय में लाने का था। इससे जो निष्कर्ष निकलते है वह इस प्रकार से है– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को मूलतः भक्त मानते हैं। क्योंकि उनके ब्राह्मण वाले मन में समाज सुधार कोई महत्त्व की चीज नहीं है। उसे समाज की कोई समस्या का सामना करना पड़े तो वह समाज सुधार की बात करे। वह समाज में सर्वोपरि स्थान पाता आया है – ऐसे व्यक्ति को दूसरो के अधिकार की बात सोचना अनावश्यक समस्या लेने के समान ही है। वास्तविक दृष्टि से कबीर साहित्य को समझने के लिए डॉ0 द्विवेदी की एक अनाधिकारी की चेष्टा है। वे एक अछूत या दलित की तरह नहीं सोच सकते।

कबीर अपने युग में समाज और देश के लिए क्या थें ? इसको समझने के लिए डॉ0 द्विवेदी को जुलाहा होना चाहिए

था। यदि जुलाहे के यहाँ जन्म लेकर वे कबीर के समान सामाजिक अपमान सहते तो उन्हें यह अनुभव हो जाता कि कबीर व्यष्टिवादी थे या समष्टिवादी। डॉ0 द्विवेदी के पास अनुभूति के लिए वह सामाजिक दर्द ही नहीं है जो कबीर के पास था। यही कारण है कि वे कबीर को समाज सुधारक नही मानते और उनके समाज सुधार को फोकट का माल कहते है। क्या सत्यता यही है नहीं? जो सत्य है उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नही होती है। इसलिए कबीरदास को एक महान पुरूष के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 222
2. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 222
3. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 222
4. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-75-76
5. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 222
6. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-77
7. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 222
8. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 217
9. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-78
10. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 166
11. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 71
12. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 117
13. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 117
14. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-80
15. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 130
16. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 151
17. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 140
18. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 141
19. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ0- 152
20. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-82

21. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 95
22. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 181
23. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 182
24 डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 183
25. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०-85
26. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 220
27. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 220
28. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 220
29. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 220
30. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 220
31. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 218
32. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 219
33. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०-86-87
34. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, तृतीय संस्करण, पृ०- 167
35. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०-90

कबीर के आलोचक के रूप में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का विचार

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी कबीर के आलोचक के दृष्टिकोण से कबीर के संदर्भ में 'समन्वयवाद' के रूप में एक नए शब्द को प्रस्तुत किया है। और कबीर को समन्वयवादी सिद्ध करने के लिए अपनी पुस्तक 'कबीर साहित्य की परख' में कबीर साहब का समन्वयवाद' शीर्षक से एक अलग अध्याय लिखा हैं। इस अध्याय के अंत में लिखा है "अतएव कबीर का 'समन्वयवाद' न तो किसी प्रकार का 'समझौता' है न भिन्न वादों से चुनी गई 'अच्छाइयों 'का समुच्चय मात्र है, जिसमें किसी को आपत्ति करने का कोई अवसर न मिल सके।"[1] यहाँ तक पहुँचने क बाद आचार्य चतुर्वेदी विषय से पुनः हट जाते हैं जब वे इस प्रकार लिखते हैं – "यह वास्तव में कोई 'वाद' भी नहीं। यह एक प्रकार का सुझाव है जिस पर स्वयं कबीर साहब ने अमल किया है और जिस पर निरपेक्ष हो कर विचार करने को सभी स्वतन्त्र है।"[2]

प्रश्न उठता है कि आखिर 'समन्वय' का अर्थ है क्या ? समन्वय शब्द बड़ा लुभावना है, दूर से लगता है कि समन्वय होना ही चाहिए परन्तु जानने की बात यह है कि किन दो से अधिक बातों में समन्वय होना चाहिए? जब कबीर के द्वारा अपने को न हिन्दू कहा गया और न मुसलमान – तो क्या तब वे इन दोनों धर्मो के समन्वय की बात कर रहे थे? क्या समन्वय इस शर्त पर होता है कि दो विचारों में से एक मिट जाए? क्या कबीर की लड़ाई हिन्दुओं

और मुसलामानों की लड़ाई थी? क्या कबीर इन दोनों से पृथक एक तीसरे धर्म के मतावलंबियों नहीं थे? यह हिन्दू विचारकों को कहाँ तक औचित्य है कि वे कबीर के आन्दोलन को हिन्दू और मुसलमान की नजर से देखें? क्यों ऐसा नही मान लिया जाता है कि कबीर की समस्या न हिन्दू की समस्या है और न मुसलमान की बल्कि यह तो उनके दलित समाज की अपनी मूल समस्या है? यही समस्या सबसे बढ़कर देश और समाज की भी है जो सभी की जननी है।

डॉ0 धर्मवीर के मत से दिक्कत यही है कि "ब्राह्मणवादी (हिन्दू) लेखक दलित समाज की समस्या को राष्ट्रीय स्तर पर नही ले जाना चाहते हैं। वे इस समस्या को दबाकर केवल अपनी समस्या को प्रकट करना चाहते हैं। वस्तुतः उनकी जो समस्या थी वह मुसलामानों से थी इसलिए उन्होंने कबीर के क्रान्तिकारी समाज दर्शन को अपनी परम्परागत समस्याओं में लेकर यह चाहते थे कि इसमें कबीर समाज सुधारक न होकर बल्कि हिन्दू धर्म की ओर से मुसलमानों से लड़ने वाले योद्धा बनकर रहें। ऐसी बुद्धि की नीति के साथ कबीर को हिन्दू लेखकों द्वारा हिन्दू सिद्ध कर दिया गया है।"[3]

यह प्रश्न पुनः उठाया जाय कि कबीर किन दो बातों में समन्वय करने वाले थे? क्या वे हिन्दुओं की जातिवाद और वर्णव्यवस्था और अस्पृश्यता से समन्वय करना चाहते थें? समन्वय में यही हो सकता है कि – "कुछ आपकी बात ठीक है और कुछ मेरी बात ठीक है।" लेकिन प्रश्न यह है कि इसमें कबीर के लिए हिन्दुओं की कौन सी बात ठीक कही जा सकती थी? और फिर यह भी हो

सकता है कि कबीर सामाजिक बातों में समन्वय चाहते थे तो यह कबीर दर्शन को आसमान में ले जाकर और फिर जमीन पर लाकर छोड़ देने के समान है। वास्तविकता जो भी हो कबीर अपने युग में दलित समाज के नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। और उनके दलित समाज की द्विज समाज से संघर्ष चल रही थी। वे द्विज समाज की किसी सिद्धान्त को मानने वाले नहीं थे। और ऐसे समय में समाज के नेतृत्व करता द्विज लोग ही थे, तो समन्वय कैसे हो सकता था।

डॉ० धर्मवीर का विचार है "आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मुख्य उद्देश्य यही है कि कबीर के दर्शन को बेमतलब की बातों में उलझा दिया जाए। हिन्दू धर्म के मन्दिर का गर्भगृह, अस्पृश्यता, जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था है। और धार्मिक कर्मकांड इसके बाहरी उपादान है। जो केवल हाँथी के दिखाने वाले दाँत है। और असली दाँत तो समाजिक भेदभाव और छुआछूत के हैं। गर्भगृह को बचाए रखने के लिए मन्दिर की चारदिवारी बदल दी जाए तब पर भी वास्तविकता पर पर्दा नहीं पड़ता। कबीर को समन्वयवादी कहने में आचार्य चतुर्वेदी की यही छुपी हुई धारणा थी।"[4]

डॉ० अम्बेडकर भी हिन्दू धर्म के इस ऊपरी और झूठे समन्वयवाद से संघर्ष किया है। और उन्होंने इसे एक पहेली कहा है और अपनी पुस्तक में 'ब्रह्मधर्म नहीं है : फिर धर्म किस मर्ज की दवा है?' शीर्षक से रखा है और इस बात का पुरा विश्लेषण किया है कि भारत के लोगों ने ब्रह्मवाद की खोज की थी जो दर्शन की दुनिया में

समाज के लाभ के लिए एक वरदान सिद्ध हो सकती थी। लेकिन उन्होंने आश्चर्य से पूछा है – "प्रश्न यह उठता है कि भारत में ब्रह्मवाद के इस सिद्धान्त का क्या हुआ? यह धर्म का आधार नहीं बनाया गया था। जब यह पूछा जाता है कि ऐसा क्यों हुआ तो उत्तर में यह बताया जाता है कि ब्रह्मवाद एक दर्शनशास्त्र मात्र हैं। मानो दर्शनशास्त्र सामाजिक जीवन से न निकलकर 'न कुछ के लिए न कुछ में से' निकलता है।"[5] परन्तु डॉ0 अम्बेडकर दर्शनशास्त्र की इस परिभाषा और व्याख्या को सही नहीं मानते फिर आगे लिखते हैं – "दर्शनशास्त्र का विषय शुद्ध सैद्धान्तिक मामला नहीं है। इसकी व्यावहारिक सम्भावनाएँ हैं। दर्शनशास्त्र की जड़ें जीवन की समस्याओं में है और दर्शनशास्त्र जो भी सिद्धान्त आगे रखता है समाज के पुनर्निमाण में उसका साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए। ऐसे दृष्टिकोण के अनुसार जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। जो जानते हैं उनके लिए जरूरी है कि उस जानने के अनुसार अपने जीवन में उसे उतारें।"[6]

और फिर अन्ततः डॉ0 अम्बेडकर ने इस पहेली के मर्म को जिसे समन्वयवाद के रूप में स्वीकार किया था को सामने रखते हुए अपने तरह से जवाब देते हुए लिखते हैं– "तब ब्रह्मवाद एक नया समाज बनाने के काम में फेल क्यों हुआ? यह एक जटिल पहेली है। ऐसा नहीं है कि ब्राह्मणों ने ब्रह्मवाद को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इसे स्वीकार किया हैं लेकिन उन्होंने कभी यह पूछने की कोशिश नहीं की कि वे ब्राह्मण और शूद्र में, पुरूष और नारी में,

जाति भाई और अन्त्यज में असमानता को कैसे सपोर्ट कर सकते है ? इसका परिणाम यह निकला है कि एक ओर हमारे पास ब्रह्मवाद का सबसे बड़ा सिद्धान्त है और दूसरी ओर जातियों, उपजातियों, अन्त्यजों, आदिम जातियों और जरायम पेशे की जातियों की बीमारी से ग्रस्त समाज है। क्या इससे बड़ा भी कोई विरोधाभास हो सकता है ? इसमें सबसे ज्यादा मजाकिया बात महान शंकराचार्य के उपदेशों की है। ये वे शंकराचार्य थे जिन्होंने एक साथ कई विचित्र और विरोधाभासी बातें सिखाई हैं कि ब्रह्म है, और यह ब्रह्म सत्य है, और यह सर्वव्यापी है, और उसी क्रम में ब्राह्मणी समाज के तमाम सामाजिक अन्यायों का ज्यों प्रचार किया है। ऐसे दो विरोधों का एक साथ प्रचार करने वाला कोई सम्यक् बुद्धि का आदमी नही हो सकता।"[7]

इस प्रकार दर्शनशास्त्र और समाज की हीनता डॉ० अम्बेडकर के लिए पहेली बनी हुई हैं। लेकिन स्वयं हिन्दू विचारकों के लिए भी यह पहेली अनसुलझी नहीं है जैसा कि वे प्रकट करना चाहते हैं। यद्यपि हिन्दू विचारक किसी महापुरूष को समन्यववाद और विचार–स्वातन्त्र्य में भी साधारण रूप से नहीं आने देते। द्विज हिन्दू अन्त तक उस महापुरूष का विरोध प्रकट करते रहते है। इनके द्वारा उसके विचारों और साहित्य को पुराने, घीसे–पीटे साहित्य अनदेखी कर दिया जाता है। लेकिन इनके सब प्रयास उसक आन्दोलन को दबाने में विफल हो जाते हैं तो उसे अपने नाकारा विचार–स्वातन्त्र्य में ले ही आते हैं। उपरोक्त विमर्श में कबीर समन्वयवादी नहीं थे

बल्कि यह ब्राह्मणवादी आलोचक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का अपना समन्वयवादी है कि उसमें कबीर को किस प्रकार जड़मूल से नष्ट करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आर्चाय परशुराम चर्तुवेदी, कबीर साहित्य की परख, भारतीय भण्डार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ0-112
2. आर्चाय परशुराम चर्तुवेदी, कबीर साहित्य की परख, भारतीय भण्डार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ0-112
3. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-100
4. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-101
5. डॉ0 धर्मवीर, सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, शेष साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण , पृ0-83
6. डॉ0 धर्मवीर, सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, शेष साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण , पृ0-83
7. डॉ0 धर्मवीर, सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, शेष साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण , पृ0-83-84

कबीर के आलोचक के रूप में डॉ० श्याम सुन्दर दास का विचार

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'डॉ0 श्याम सुन्दर दास' एक प्रखर आलोचक के रूप में 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन केवल हिन्दू दृष्टिकोण को लेकर किया है, और इसके सम्पादन में 'डॉ0 दास' का एक मात्र लक्ष्य यह था कि कबीर को हर तरह से पूर्णतः हिन्दू रक्त घोषित किया जाए। कबीर के समय का वर्णन करते हुए वे प्रस्तावना में लिखते हैं – "सोने-चाँदी की तो बात ही क्या, हिन्दुओं के घरों में ताँबे-पीतल के थाली-लोटों तक का रहना सुल्तान को खटकने लगा। उनका घोड़े की सवारी करना और अच्छे कपड़े पहनना महान अपराधों में गिना जोन लगा। नाम मात्र के अपराध के लिए भी किसी की खाल खिंचवा कर उसमें भूसा भरवा देना एक साधारण बात थी।"[1] उन्होंने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई उदाहरण पेश करते हुए निष्कर्ष रूप में लिखा है– "कबीर का जन्म ऐसे समय में हुआ जबकि मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा नहीं रह गई थीं और उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष रह गई थी। उसे मृत्यु या धर्म परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नही देख पड़ता था।"[2]

डॉ0 धर्मवीर का मत है कि "डॉ0 श्याम सुन्दर दास ने अपने आपको हिन्दुओं तक ही सीमित रखा था। लेकिन उनके बाद

इस परम्परा में हिन्दू की व्याख्या ब्राह्मण के रूप में की गई थी। ऐसे विषम परिस्थिति में कबीर क्या करते? मुसलमानों द्वारा मारे जा रहे द्विज हिन्दुओं और ब्राह्मणों की हिमायत करते या मुस्लमानों द्वारा तथा द्विज हिन्दुओं और ब्राह्मणों द्वारा मारे जाते हुए अपने दलितों की रक्षा करते? सच्ची बात यही है कि कबीर ने मुसलामानों और हिन्दुओं द्वारा मारे जा रहे अपनी दलित जातियों की रक्षा के लिए तत्कालीन इतिहास के चौराहे पर पुकार मचाई थी। लेकिन बाद के सभी हिन्दू लेखकों ने कबीर का लाभ यह उठा कर किया है कि उन्होंने मुसलमानों के अत्याचारों से हिन्दुओं की रक्षा की थी। यह लेखकों द्वारा समाज को दिग्भ्रमित करने के जैसा है।''[3]

डॉ० श्याम सुन्दर दास ने कबीर के विश्लेषण में अपनी हिन्दूवादी मानसिकता को हर तरह से जाहिर कर दिया है, जब उन्होंने कबीर को विचार की दृष्टि से हिन्दू रक्त का सिद्ध किया है। डॉ० दास ने लिखा है कि "मुसलमान घर में पालित पोषित होन पर भी कबीर का हिन्दू विचारों में सराबारे होना उनके शरीर में प्रवाहित होने वाले ब्राह्मण अथवा कम से कम हिन्दू रक्त की ही ओर संकेत करता है।"[4]

डॉ० श्याम सुन्दरदास को अपने विचारों को स्पष्ट करते समय यह ख्याल नहीं रहा कि वे उस हिन्दू रक्त की बात कर रहे हें जिसनें ऊँच-नीच, छुआ-छूत जैसे घृणित विचारों को जन्म दिया है जिसके लिए उनको आत्मिक कष्ट होना चाहिए था। यह कैसे हिन्दूत्व

के गौरव की बात है कि जिसमें अपने लाभ की भावना कूट-कूट भरी हुई है, कबीर उसी के कारण समाज में जुलाहे और अछूत कहे गये थे। कम से कम खुद कबीर को अपने ऐसे जन्म पर गौरव नहीं हो सकता था। वे अपने ऐसे ब्राह्मणी जन्म से मृत्यु को श्रेयकर समझते। डॉ० दास ने कबीर के बारे में लिखा है कि "जान पड़ता है कि कबीर की हार्दिक इच्छा यही थी यदि मेरा ब्राह्मण कुल में जन्म हुआ होता तो अच्छा होता। पूर्व जन्म में अपने ब्राह्मण होने की कल्पना कर वे अपना परितोष कर लेते हैं।"[5] डॉ० दास ने जिस तर्क के आधार पर विचार डाला है वह पूर्ण निराधार स्वतः ही सिद्ध हो गया था।

कबीर को हिन्दू सिद्ध करने के लिए डॉ० श्याम सुन्दर दास ने एक और उपाय कबीर के गुरू को लेकर अपनाया है। इसमें भी उनके द्वारा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है बल्कि सीधे किंवदन्ती का सहारा लिया है । परन्तु आलोचना के इतिहास में मात्र किंवदन्तीयों के माध्यम किसी तर्क को प्रमाणित नहीं किया जा सकता हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास उन पहले हिन्दू लेखकों में से हैं जिन्होंने कबीर के बारे में ज्यादा से ज्यादा भ्रम फैलाने की शुरूआत की थी। एक तरह से इन्होने नेतृत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया था। बाद के सभी ब्राह्मणवादी हिन्दू लेखक इन्ही के कथनों की लकीर पीटते रहे हैं।

डॉ० दास अपनी प्रस्तावना में लिखते हैं – "मुसलमान के घर में लालित-पालित होने पर भी उनका हिन्दू विचार धारा में आप्लावित होना उन पर बाल्यकाल ही से किसी प्रभावशाली हिन्दू का

प्रभाव होना प्रदर्शित करता है। ”[6]

“इसके अनन्तर भी कबीर जीवन पर्यन्त रामनाम रटते रहे जो स्पष्टतः रामानन्द के प्रभाव का सूचक है। अतएव स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु मानने में कोई अड़चन नहीं है, चाहे उन्होनें स्वयं उन्हीं से मन्त्र ग्रहण किया हो अथवा उन्हें अपना मानस गुरु बनाया हो।”[7] “कबीर ने चाहे जिस प्रकार हो, रामानन्द से राम नाम की दीक्षा ली थी।”[8]

डॉ0 धर्मवीर का कहना है कि “यह बात संदेह के साथ पूछा जा सकता है कि रामानन्द को कबीर का गुरु सिद्ध करने में डॉ0 श्यामसुन्दर दास की इस बार-बार रट का क्या अर्थ हो सकता हैं। डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने यदि रामानन्द को कबीर के गुरु के रूप में माना लिया है तो इस बात को वे बार-बार दबाव देकर क्यों प्रकट करना चाहते रहते हैं? वास्तव में इसके पीछे उनके मन का चार बोल रहा है। उनकी रट से ऐसा लगता है कि जैसे खुद उन्हें अपनी बात पर विश्वास न हो रहा हो। वे इस बात को औरों को समझाने के लिए नही बल्कि इस झूठ को खुद अपने लिए ही बोलना सीख रहे थे। जैसा कि यह अवधारणा है कि सौ बार एक झूठ को बोला जाए तो वह समाज के मनोवैज्ञानिक वातावरण में सच बन जाता है। डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने रामानन्द को कबीर का गुरु बनाकर ही संतोष नहीं किया बल्कि उन्होंने अपनी काली-सफेद लेखनी से कबीर को वैष्णव सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया है।”[9]

डॉ0 श्याम सुन्दर दास लिखते हैं- “यहाँ पर यह कह देना उचित

जान पड़ता है कि कबीर सारतः वैष्णव थें। अपने आपको उन्होनें वैष्णव तो कहीं नही कहा है परन्तु वैष्णवों की जितनी प्रशंसा की है, उससे उनकी वैष्णवता का बहुत प्रमाण मिलता है।"[10] कबीर की बिना जाँची-परखी शाक्तों की बुराई की कई पंक्तिया उद्धृत करके आगे डॉ0 दास ने निष्कर्ष निकाला है कि "शाक्तों की निंदा के लिए यह तत्परता उनकी वैष्णवता का ही फल है।"[11] अन्त में लिखते हैं कि "जो कुछ सन्देह उनकी वैष्णवता में रह जाता है, वह रामानन्द जी को गुरू बनाने की उनकी लालसा से दूर हो जाना चाहिए।"[12]

डॉ0 धर्मवीर का कहना है कि "डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने विचारों के आधार पर कबीर को हिन्दू माना है। यह तर्क उनका इस प्रकार है कि - कबीर ने हिन्दू धर्म और हिन्दुओं की मुसलामानों से रक्षा की; कबीर के गुरू ब्राह्मण रामानन्द वैष्णव थें; कबीर ब्राह्मणी या किसी हिन्दू स्त्री के गर्भ से होने के कारण हिन्दू रक्त थे; और कबीर का हिन्दुओं के पुर्नजन्म के सिद्धान्त में गहरा विश्वास था। डॉ0 दास बार-बार सिद्ध करने का प्रयास करते रहे हैं कि कबीर मुसलमान या मुसलमानी सिद्धान्तों से प्रभावित नहीं थे।"[13] कबीर के ईश्वर के सिद्धान्त के बारे में डॉ0 दास लिखते हैं - "कबीर की 'रामभावना' भारतीय ब्रह्म भावना से सर्वथा मिलती हैं जैसा कि कुछ लोग भूल से समझते हैं, वे बाह्यार्थवाद मूलक मुसलमान एकेश्वरवाद के समर्थक नहीं थें। "[14] पुनर्जन्म के बारे में डॉ0 श्यामसुन्दर दास लिखते हैं - "हिन्दुओं का जन्म-मरण सम्बन्धी सिद्धान्त कबीर मानते हैं। मुसलमानों की तरह वे एक ही जन्म नहीं मानते।"[15]

डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करवा कर कबीर के दर्शन को पूरी तरह से दफन कर दिया है। उनके द्वारा कबीर के दर्शन का किसी भी रूप में प्रकट करने का प्रयास किया गया है। इसीलिए उन्होनें वेदों को बचाते हुए कबीर की समीक्षा इन शब्दों में की है– "कबीर बहुश्रुत थें। सत्संग से वेदान्त, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान उनको हो गया था। वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान न था। उन्होंने वेदों की जो निन्दा की है, वह यह समझकर कि पंडितों में जो पाखंड फैला हुआ है, वह वेद ज्ञान के कारण ही है।"[16] लेकिन इतने प्रयासों के बावजूद डॉ0 दास के कबीर के हिन्दू होने के मूल्यांकन में कुछ शेष बची ही रह जाती हैं।

डॉ0 दास को यह पूर्णतः मालूम है कि कबीर में और हिन्दू वैष्णवों में भेद अवश्य है। लेकिन इस भिन्नता को वे बहुत सावधानी से उदार बनकर छिपाना चाहते हैं। वे आगे लिखते हैं– "अन्य वैष्णवों में और कबीर में जो भेद दिखाई देता है उसका कारण, जैसा कि हम आगे बतायेंगे, उनके सिद्धान्त और व्यवहार में भेद न रखने का फल है।"[17] इस बारे में जो उन्होंने आगे चल कर बताया है वह इस प्रकार है– "परन्तु कबीर के 'राम' रामानन्द के 'राम' से भिन्न थे।.........'राम' से उनका अभिप्राय कुछ और ही था ।"[18] और अन्ततः बचाव का कोई और रास्ता न देखकर डॉ0 दास को अपनी लेखनी से असली बात सामने रखनी पड़ी है। जब वे अपनी पुस्तक में लिखते हैं– "सिद्धान्त और व्यवहार में, कथनी और

करनी में भेद रखना कबीर के स्वभाव के प्रतिकूल है। वैष्णवों में सदा से सिद्धान्त और व्यवहार में भेद रहा है।"[19]

डॉ० धर्मवीर का मत है कि "डॉ० दास के इसी कथन पर ध्यान दिया जाना जरूरी है, क्योंकि कबीर की हिन्दुओं की इसी बात से तो असली लड़ाई रही है? कबीर वैष्णवों की इसी विचारधारा को "मुँह में राम और बगल में छूरी" प्रयोग करने के जैसा है। अन्ततः इसी से वैष्णव झूठे भी सिद्ध होते हैं। उस आदमी को ज्ञान दिया जा सकता है जो अज्ञानी है परन्तु यहाँ वैष्णव सब कुछ जानकर भी मूर्ख बनता रहा है। उस आदमी से ज्यादा सावधान रहने की आवश्यकता नहीं है जो जैसा कहता है वैसा ही करता है। लेकिन कबीर के दृष्टि में वह वैष्णव जो कहता कुछ है और करता कुछ और है। तत्त्व चिन्तन की दार्शनिक दुनिया में इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है कि वैष्णव के रूप में हिन्दू दार्शनिक झूठ बोलता हैं। एक व्यक्ति जो सिद्धान्ततः मानता है कि मनुष्य और मनुष्य में कोई फर्क नहीं है वही व्यवहार में ऊँच-नीच और छुआ-छूत को मान रहा है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि कबीर का विरोधी वैष्णव भोला नहीं है बल्कि चालाक और कथनी करनी में फर्क झूठ है।"[20]

डॉ० श्यामसुन्दर दास हिन्दी साहित्य के उन आलोचकों में से हैं जिन्होंने कबीर के काव्य की समीक्षा पर कार्य किया है। किसी कार्य की शुरूआत कैसे होती है यह एक महत्त्वपूर्ण बात है यह तथ्य खोजने की है कि क्या काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने डॉ० श्यामसुन्दर दास को 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन करने के लिए

यह निर्देश दिये थे कि कबीर को एक हिन्दूवादी के रूप पेश करो और तुलसी के समक्ष अधिक महत्व भी न दो। यह कार्य उनके द्वारा पूरी निष्ठा के साथ किया गया है। तथा कबीर को महत्व न देने का अवसर 'डॉ० दास' को कबीर की भाषा पर इस प्रकार टिप्पणीयाँ की है- "कबीर की अटपट वाणी हृदय में चुभने वाली है।"[21] "कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है।"[22] "कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल गँवारू लगती है।"[23]

डॉ० धर्मवीर का कथन है "आलोचना की दृष्टि से डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा कबीर की वाणी को अटपटी कहना सुना जा सकता है परन्तु वह चुभने वाली क्यों हो गई हैं? यदि कबीर की वाणी भाषा की दृष्टि से मात्र अटपटी होती तो वह मात्र काव्य दोष की श्रेणी में आ जाती। इस तरह के काव्य दोष सभी महाकवियों की भाषा में कम या ज्यादा मिलते हैं। जहाँ तक साहित्यिक दोष की बात है वह चुभा नहीं करते। यथार्थ में कबीर की वाणी में जो उनका कथ्य है वह द्विज सुकवि तुलसी को भी चुभा था। उन्होंने कबीर तक ही नही बल्कि कबीर की परम्परा के सारे कवियों को 'अधमनर' सम्बोधित करके लिखा है।

यह बात आलोचना के क्षेत्र सोचनीय है कि क्या कबीर इस वजह से 'अधमनर' की श्रेणी में आते है कि उन्होंने अपनी भाषा में रस, छन्द और अलंकार का ध्यान नहीं रखा है या इस वजह से कि वे निर्गुण सन्तों की कोटि में आते हैं? तुलसी के इस शब्द का अर्थ सन्दर्भ सहित समझने पर यही ज्ञात होता है कि कबीर को

निर्गुण मत का होने के कारण ही 'अधमनर' कहा गया है। यदि कबीर अपने काव्य में कितनी भी कोमल भाषा का प्रयोग करते, उन्होंने ऐसा किया भी है, परन्तु वे निर्वर्ण समुदाय के प्रवर्तकों में से हैं इसलिए उनका साहित्य अधम श्रेणी का ही सदैव रहेगा। इस तरह से डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने कबीर के काव्य को उच्चकोटि का न मानते हुए तुलसीदास की परम्परा को निभाया भर है। इसलिए उन्हें कबीर की वाणी में जो अटपटापन दिखा है वह काव्य मूल्यों के बजाय निर्वर्ण सम्प्रदाय के वजह से चुभने वाला विशेष रूप से हो गया है। ब्राह्मणवादी चिन्तकों के लिए कबीर के साहित्य की यही कसौटी है। यदि ब्राह्मणवादी विचारधारा के लिए कबीर की वाणी अटपटी है और चुभती है तो तभी वह कबीर की वाणी हैं ब्राह्मणवादियों को कबीर के जो पद न चुभें तो समझ लेना चाहिए कि वे कबीर के पद नहीं है।"[24]

पहले यह जान लेना आवश्यक है कि कबीर की भाषा कौन सी है जो सच में अटपटी हैं तो इसका उत्तर यह है कि कबीर की भाषा 'संस्कृत' नहीं हैं। इससे भी अधिक अटपटी यह है कि उनकी भाषा संस्कृत से निकली हुई भी कोई भाषा नहीं है। यहाँ यह बात भी कहने योग्य है कि उनकी भाषा अवधी और 'ब्रज' भी नहीं थीं। उनकी मातृ भाषा द्विजों की मातृ भाषा और साहित्यिक भाषा नहीं थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जो मूल कारण है कि द्विजों की अवधी और ब्रज भाषाएँ अपनी साहित्यिकता में संस्कृत से प्रभावित हो गई थीं लेकिन इन क्षेत्रों के दलित समाज की अवधी

और ब्रज भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित नहीं थीं।

डॉ0 धर्मवीर का मत है "क्या कबीर की भाषा में रस, छन्द और अलंकार की कमी है जो उसे अटपटी कहा गया है ? ऐसा समझने वालों को पता होना चाहिए कि हर भाषा के रस, छन्द और अलंकार अलग होते है। संस्कृत की परिपाटी के रस, छन्द, और अलंकार कबीर की गैर-संस्कृत भाषा पर नहीं लादे जा सकते। कबीर की भाषा के काव्य को उनकी भाषा के अनुरूप और तत्कालीन समय की आवश्यकता से देखा जाना चाहिए। अनाधिकारियों को कबीर के साहित्य का रसास्वादन दुर्लभ है। दुःख की बात यह है कि ऐसे आलोचक तुलसी की "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" जैसी पंक्तियाँ अटपटी और चुभने वाली नहीं मानते है।"[25]

कबीर ने ऐसी भाषा बोलनी चाही थी जो उनके दलित समाज जो सदैव उपेक्षित रहे हैं में दूर-दूर तक समझी जा सके। उस भाषा का प्रचार उत्तर-भारत के दलितों में कबीर से पहले था। कबीर के द्वारा ऐसे भाषा को अपने काव्य के माध्यम से और अधिक विकसित किया था। यदि उस प्रयास में कुछ शेष रह जाए तो वह कटु आलोचना करने योग्य नही है। कबीर मध्यकाल के ऐसे महान पुरूष थे जिन्होंने खड़ी बोली को आधुनिक संविधान में लिखवा कर भारत में राष्ट्र की राजभाषा बनवाया है। इस कार्य में सूर की ब्रज और तुलसी की अवधी का योगदान कुछ भी नही रहा है।

समीक्षा : डॉ0 धर्मवीर ने डॉ0 दास के द्वारा कबीर को हिन्दू और हिन्दू धर्म के समर्थक के रूप में प्रस्तुत करने का निराधार

मान्यताओं का खण्डन किया हैं। इसके सन्दर्भ में मेरा विचार है कि डॉ0 श्यामसुन्दर दास के द्वारा अपने चिन्तन का पक्ष विशेषतः कबीर को हिन्दू और हिन्दू धर्म के रक्षक के रूप में प्रस्तुत करने का रहा है। इसके पीछे उनका अपना स्वार्थ पूरी तरह से परिलक्षित था। डॉ0 दास कबीर को उस हिन्दूवादी विचारधारा से सम्बन्धित रखना चाहते है । जिसमें छुआ-छुत, ऊँच-नीच जेसे कुण्ठित और घृणित विचार की भावना पूरी तरह से व्याप्त हैं और ऐसे हिन्दू धर्म से कबीर अपने को जोड़ करके न तो गौरव की बात कह सकते हैं और न सोच सकते थें। उनकी दृष्टि में ऐसे कुल में जन्म से सिर्फ अभिमान का ज्ञान हो सकता है। वास्तविक दुःख और दर्द का नहीं।

डॉ0 दास कबीर को हिन्दु और वैष्णव धर्म से सम्बन्धित करने के लिए उनके गुरू 'रामानन्द' को माध्यम बनाया है। उनका मानना है कि कबीर के अन्दर यह भावना कि उनके गुरू देव के रूप में 'रामानन्द' से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नही हो सकता है, ऐसे विचार एक हिन्दू के अन्दर ही आ सकता है। क्योंकि रामानन्द उस समय वैष्णव धर्म के महान प्रवर्तकों में से थें ,और अन्ततः उन्हें अपना गुरू बनाकर 'राम नाम' की दीक्षा ली।' परन्तु यथार्थता कुछ और ही है, कबीर ने रामानन्द को अपना गुरू बनाकर जिस 'राम' नाम की महिमा का गुणगान किया था, वह पुराणों में प्रतिपादित और तुलसी के 'राम' न होकर परमब्रह्म, सर्वव्यापी, निराकार, 'राम' है। जिनको प्राप्त करने के लिए न तो उच्च कुल में

जन्म लेना जरूरी है, और न पाखण्ड और आडम्बर की, बल्कि कबीर के ऐसे राम की कृपा दृष्टि प्राप्त करने के लिए हृदय में 'श्रद्धा' और 'भाव' का होना आवश्यक है।

कबीर को वैष्णवों की कथनी और करनी में भेद रखने वाला स्वभाव से ही विशेष घृणा थी, एक ओर इन लोगों के द्वारा '<u>भक्तिभावना</u>' का प्रसार और प्रचार किया जाता है वही दूसरी ओर ईश्वर के द्वारा निर्मित मानव को वर्गो में बांटकर, ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना को बनाये रखना चाहते हैं। कबीर की दृष्टि में यहाँ पर न्याय कैसे हो सकता है । जब मुँह में राम और बगल में छूरी है। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है कि जो ज्ञान में होकर भी अज्ञान का कार्य कर रहा है। डॉ0 श्यामसुन्दर दास अपने उस लक्ष्य को जो एक द्विज विचारक होने के कारण उनके ऊपर था उसे निभाने में उनके द्वारा पूरा प्रयास किया गया है। वह यह था कि कबीर को एक हिन्दूवादी विचारक के रूप में प्रस्तुत करें, और तुलसीदास के सामने नीचे के श्रेणी में रखें निष्कर्षतः जिसमें अन्याय की भावना स्वहित के लिए पूरी तरह से समाहित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–7
2. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–9–10
3. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–43–46
4 सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–18–19
5. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–19
6. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–21
7. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–23
8. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–28
9. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–54
10. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–14
11. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–14
12 सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–14
13. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–54
14. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–28
15. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–39
16. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–4
17. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–14
18. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–28
19. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–5
20. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–56
21. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–57
22. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–57
23. सं० डॉ० श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी सांतवा संस्करण, प्रस्तावना– पृ०–60
24. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–58–59
25. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०–60

कबीर के आलोचक के रूप में डॉ० राम निवास चंडक का विचार

कबीर के ब्राह्मणवादी आलोचक के रूप में डॉ0 राम निवास चण्डक द्वारा 'कबीर जीवन और दर्शन' शीर्षक के रूप में अपनी पुस्तक प्रस्तुत किया है। इसमें कबीर की मौलिकता को नष्ट करके अन्त कर दिया गया है। इस पुस्तक को लिखने में डॉ0 चण्डक की मानसिकता यह रही है कि कबीर की हर बात को वेद सम्मत ही नहीं बल्कि संस्कृत भाषा के सम्मत दिखाया जाए। इस पुस्तक की शैली से पता चलता है कि लेखक कबीर को नहीं बल्कि संस्कृत भाषा के सम्मत दिखाया जाए। इस पुस्तक की शैली से पता चलता है कि लेखक कबीर को नहीं बल्कि संस्कृत के ग्रन्थों को विशेष महत्व देने का प्रयास किया है।

डॉ0 राम निवास चंडक ने यह स्वीकार किया है कि "कबीर सामाजिक न्याय के प्रबल पोषक हैं। वे जीवन को श्रम साध्य बनाकर अभीष्टतम की सिद्धि करना चाहते हैं।"[1] परन्तु डॉ0 चंडक के लिए सामाजिक न्याय का यह वाक्य केवल एक देखावटी नारा बनकर रह जाता है, जब वे लिखते हैं कि सामाजिक न्याय को प्राप्त करने का "अनन्य उपाय है जीवन को पवित्र एंव सादा बनाना"।[2] अगली पंक्ति में इस पवित्रता और सादगी को भी डॉ0 चंडक ने "आहार की शुचिता आत्मशोघन की चेतना को जाग्रतावस्था की ओर उन्मुख करने में अनिवार्य उपादान" बताकर संतोष कर लिया है।

डॉ0 धर्मवीर का इस संदर्भ में विचार है 'डॉ0 चंडक को

पता होना चाहिए था कि सामाजिक न्याय का अर्थ वह नही है जो उन्होंने इस आधार शुद्धि में समेट कर ले लिया है। यह शब्द भारत के संविधान के उद्देशिका में रखा गया है। वहाँ इस शब्द का आशय है कि दलितों और पिछड़ो के लिए सरकारी सेवाओं में स्थान आरक्षित रहेगे। इस सामाजिक न्याय के निर्णय के विरोध में लोग पवित्रता, सादगी, आहार की शुचिता और आत्म शोधन पर न जाकर 'आत्मदाह' पर उतरे है। लेकिन यहाँ डॉ0 चंडक अपनी पुस्तक में आहार शुद्धि को धार्मिक और मनमाने अर्थ के रूप में प्रकट कर रहे हैं।"[3]

यह विचारणीय है कि डॉ0 चंडक अपने इन वाक्यों में क्या प्रस्तुत करना चाहते हैं- "कबीर ने अपने जुलाहा होने का निस्संकोच वर्णन किया है, पर निम्न जाति में जन्म लेने का वास्तविक कारण संचित कर्मो को बताया है, तो भी ईश्वराधन के परिणाम स्वरूप वे प्रस्तुत जन्म में 'उन्नति' कर रहे हैं। जुलाहा जन्म कर्म-ब्रह्म का विकास हैं पर वहीं सब कुछ नहीं हैं। जुलाहा होंने पर भी कबीर के भीतर भक्ति में मथित होकर नवनीत का रूप ले लिया था।"[4] डॉ0 धर्मवीर का मत है कि "यदि कबीर ने जुलाहा जाति में अपने जन्म को पिछले जन्मों में किया हुआ कर्मो का आधार मान लिया है तो प्रश्न यह उठता है कि कबीर ब्राह्मण से क्यों लड़ रहे थे? इससे भी सत्यता सामने आ जाती है।"[5]

डॉ0 रामनिवास चंडक ने कबीर द्वारा किये गये जुलाहेगिरी के काम की प्रशंसा वर्ण और जाति की दृष्टि से की है न कि श्रम

को दृष्टि में रखकर। वे अपने इस विचार को सामने रखते हुए लिखते हैं। "कबीर स्वयं जुलाहे थे, कर्मठ एवं धीर थे। उन्होंने कर्म क्षेत्र की क्यारी को अपने अध्यवसाय के जल से अभिसिंचित किया। जीवन के परम आराध्य प्रिय प्रभु की अर्चना के समय भी वे 'इस कर्म' से अलग नहीं हुए।"[6] इस उद्धरण से पता चलता है कि डॉ० चंडक ने कबी रके जिस कर्म की प्रशंसा की है वह यथार्थ में उनका रोजी-रोटी कमाने का काम था। यह कोई धार्मिक दृष्टि का नित्य और नैतिक दृष्टि का विधि और निषेध वाला कर्म नही था। डॉ० चंडक के दृष्टि से यह कबीर ने अच्छा किया कि अपना जुलाहेगिरी का पेशा ही अपनाया और किसी अन्य वर्ण या जाति का पेशा नही अपनाया।

डॉ० रामनिवास चंडक ने अपनी पुस्तक में कई गलतियाँ की है। 'प्रेम, ज्ञान और भक्ति' वाले अघ्याय में वे एक जिम्मेदार न होंने वाले आलोचक के नाते लिखते हैं- "कबीर ने स्पष्टतः सुरति प्रेम और समृति ग्रन्थों को लक्ष्य प्राप्ति का माध्यम स्वीकारा है। जगत के सभी साधन भूत उपाय इन्ही के इर्द-गिर्द घूमते हैं। इससे पता चलता है कि जीवन को सदाचारपूर्ण दृढ़ आधार प्रदान करने में स्मृति का प्रयास मौलिक है जिसे कबीर ने स्वीकारा है।"[7]

डॉ० चंडक ने गीता की उसी रटी-रटाई बात को कई बार लिखा है कि "स्वकर्म का आचरण करते हुए जीवन निर्वाह करना परमेश्वर की पूजा के लिए ही है, अपने लिए नहीं-भोग भोगने के लिए नहीं। लोकसेवा यज्ञ भक्ति आदि शुभ कर्म करने से जीव का

जीवन उज्ज्वल होता है।"[8] और आगे यह भी लिखा है कि –"कबीर श्रम की प्रतिष्ठा के साथ उसे ब्रह्म बनाने का आदेश देते हैं।"[9]

इसके संदर्भ में डॉ0 धर्मवीर का कथन है कि "यहाँ डॉ0 चंडक कबीर को जुलाहेगिरी के स्वकर्म करने को ही कह रहे हैं। यदि कबीर जुलाहों में पैदा होकर एक क्षत्रिय के सामने राज करने की चाह करें तो डॉ0 चंडक जैसे ब्राह्मणवादी उन्हें इसकी अनुमति कभी नही देंगे। जब कबीर ने जुलाहें जाति में जन्म लेकर भी राम का नाम इनके न चाहते हुए भी लेकर दिखाया है तो ऐसे चिन्तक कुछ कर नहीं सकते लेकिन यदि इनकी चलती तो यही कहते कि तुम्हें राम का नाम लेने का अधिकार नही है क्योंकि कि यह तुम्हारा स्वकर्म नहीं है। लेकिन वक्त के दबाव में ऐसे लेखकों ने कबीर को ब्राह्मणों के इस नियत स्वकर्म की अनुमति दे रखी है यद्यपि कबीर को अपने युग में इसके लिए डॉ0 चंडक के पुरखों से काशी में सघर्ष करना पड़ा था। यही तो उस समय की लड़ाई थी कि वर्ण विभाजन के अनुसार भक्ति, ज्ञान और उनका प्रचार कबीर के स्वकर्म की गिनती में नहीं आते थे। कबीर का स्वकर्म जिसे गीता में 'स्वधर्म' कहा है, कपड़ा बुनना था। कपड़ा बुनना छोड़कर उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के स्वधर्मो को अपनाने की मनाही थी।'[10]

कबीर के सिद्धान्त को स्वयं समझने में और फिर दूसरों को समझाने में डॉ0 रामनिवास चंडक के सामने दो बाते थी। प्रथम में उनके द्वारा यह मान लिया गया कि कबीर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को और उसके आधार पर जाति में जन्म लेने को मानते

हैं। दूसरी बात में उनके द्वारा यह भी मानना पड़ा कि कबीर संसार में जाति पाँति की विभाजक रेखा को मानवता के लिए विनाशक मानते हैं। समस्या यह है कि डॉ0 चंडक द्वारा कबीर के बारे में अपनी इन दो विरोधी बातों में सामंजस्य कैसे बैठाएँ? इसके उत्तर में उन्होंने यह लिखा –"प्रत्येक जाति का श्रेष्ठ कर्म ब्रह्म कर्म ही है। जाति मात्र में ऊँच–नीच का भेद नहीं है।"[11]

इस कथन के सम्बन्ध में डॉ0 धर्मवीर का मत है कि "जब कबीर जुलाहेगिरी का काम करते हैं तो यह उनका काम ब्रह्म कर्म हो जाता है। चूँकि कबीर जुलाहेगिरी का काम करते हैं इसलिए वे दूसरी जाति के मुकाबले में नीच नही हो जातें यदि कबीर काजी पुजारी बनकर मंदिर में पूजा पाठ करने आ जाए तो उसके लिए डॉ0 चंडक का उत्तर स्वीकृति के रूप में नही होगा। इसीलिए ब्राह्मणवादी विचारको से कबीर की कभी नही पटी।"[12]

कबीर ने जुलाहागिरी छोड़कर ब्राह्मणों की तरह भगवान की भक्ति करनी चाही थी। लेकिन डॉ0 चंडक के अनुसार कबीर जो कपड़ा बुनते है वह अपने लिए ही नहीं बल्कि समाज के अन्य लोगों के लिए भी होता है। अतः उनकी भाषा में यह कबीर का विश्वार्पण किया हुआ ब्रह्म कर्म हो गया है। ब्राह्मण का कर्म वेद के माध्यम से ईश्वर की आराधना करने का है। इसमें वह अपने लिए ही नही बल्कि अन्य लोगों के लिए भी ईश्वर की आराधना कर लेता है। जैसे कबीर का कपड़ा ब्राह्मण के पहनने के काम आता है ऐसे ही ब्राह्मण की ईश्वर भक्ति कबीर जुलाहे की ओर से भी की गई होती है।

डॉ0 चंडक के कथन का आशय यह है कि कबीर को कपड़ा बुनना छोड़कर ईश्वर की भक्ति नही करनी चाहिए और ब्राह्मण को ईश्वर भक्ति को छोड़कर कभी कपड़ा बुनने के काम में हाथ नही लगाना चाहिए। समाज में यही अधिकारिक भेद के लिए ही कबीर ने संघर्ष का बीड़ा उठाया था। जो ब्राह्मण और कुलीन ने अपनी हित और लाभ को ध्यान में रखते हुए दूसरे राष्ट्र धर्म में प्रस्तुत कर दिया था। जिसमें अन्याय और घृणित विचारों का पूरा सामंजस्य था।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-142

2 डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-142

3 डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-106

4. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-144

5 डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-106-107

6. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-155

7. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-204

8. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-159

9. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-159

10. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-110

11. डॉ0 राम निवास चंडक, कबीरः जीवन और दर्शन, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी प्रथम संस्करण, पृ0-165

12. डॉ0 धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ0-112

तृतीय अध्याय

कबीर की आलोचना में दलित विचार

यह सच है कि कबीर न हिन्दू थे और न मुसलमान थे लेकिन इसका मतलब यह नही है कि उन्होंने इन दोनों धर्मो की बुराइयों का खण्डन करके इन की अच्छाइयाँ इकट्ठी की है। दलित दृष्टि से इस घटना का केवल यह मतलब है कि एक ईसाई आदमी न हिन्दू होता है और न वह मुसलमान होता है और न उसे ऐसा सिद्ध ही करना पड़ता है। ऐसे ही कबीर का धर्म हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म से सर्वथा अलग धर्म है। यह दलित धर्म है। इसे इसी रूप में समझा जाय और इतिहास भर में इसकी स्पष्ट पहचान पर धूल न फेंकी जाए। दलित के धर्म की पृथकता के लिए यह जरूरी नहीं है कि सिद्ध किया जाए कि ब्राह्मण धर्म बुरा है।

ब्राह्मण धर्म अच्छा है या बुरा है, इससे कबीर के धर्म को कोई सरोकार नही है। जब कोई मसीहा नई बात लेकर पैदा होता है, नए धर्म की स्थापना के लिए वह पर्याप्त कारण होता। फिर, कबीर ने दलित धर्म की लम्बी परम्परा को पहचान और अभिव्यक्ति दी है, जो ब्राह्मण धर्म समेत संसार के किसी भी अन्य धर्म से भिन्न है। इसमें कबीर अपने धर्म की व्यक्तिगत साधना करें या समाजगत साधना करें इससे किसी विधर्मी को क्या मतलब? प्रभाव सभी पर पड़ते हैं पर उनका अलग से अध्ययन किया जा सकता है। लेकिन उससे किसी धर्म की पृथकता समाप्त नही हो जाती।

खुद हिन्दू धर्म इस्लाम और ईसाईयत के सम्पर्क में आया है। ऐसे ही दलित धर्म भी हिन्दू समेत उनेक धर्मों के सम्पर्क में आया है। इसमें हर कोई अपने धर्म को 'अपडेट' किया करता है। दलित को भी इसका हक है। इसलिए हिन्दू धर्म के प्रश्नों का जवाब दलित चिन्तक नहीं देगा। यह उसकी जिम्मेदारी नहीं है। उससे ऐसी कोई अपेक्षा या आशा न रखी जाए। सवाल इस बात का नहीं है कि दलित किसी से कुछ मांगता है या वह किसी का कुछ छीनता हैं, ऐसा एक बार भी नहीं है। यह भ्रम फैलाया गया हैं। सच्ची बात यह है कि दलित विश्व सभ्यता में अपना विशेष योगदान करना चाहता है। उसके इस नेक इरादे पर शंका क्यों है? कबीर के रूप में यह दलित योगदान महानता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है।

फिर धर्म से सारा जीवन प्रभावित होता है। साहित्य इस प्रभाव से बच नहीं सकता। कबीर के धर्म और कबीर के साहित्य के सम्बन्ध को इसी रूप में समझा जाना चाहिए। 'क्या कबीर हिन्दू थे यह प्रश्न अपने आप में बहुत गुढ़ रह गया है, अतः हमें पहले हिन्दू' की परिभाषा पर विवेचना कर लेना ही उचित है।

प्रो० नामवर सिंह ने 'कबीर के आलोचक' पर राष्ट्रीय गोष्ठी में कहा है कि डॉ० द्विवेदी ने हिन्दू की एक निश्चित परिभाषा दी हैं वे शब्द इस प्रकार है जो नामवर सिंह ने उद्धृत किये हैं– "जहाँ–जहाँ कबीर दास ने हिन्दू शब्द का व्यवहार किया है वहाँ–वहाँ तीन शब्दों में से तीनों, दो या एक का मतलब रहता है। ये तीन बाते हैं वेद, ब्राह्मण और पौराणिक मत। इन तीनों को मानने वाले को ही

कबीरदास 'हिन्दू' कहते हैं।"[1]

आगे लिखा है– 'हिन्दू शब्द का व्यवहार आजकल उन सभी धर्म मतों के लिए होने लगा है जो भारत वर्ष में उत्पन्न हुए हैं और जिन के अनुयायी अपने को अहिन्दू नहीं कहते। कबीरदास इस शब्द का अर्थ नही लेते जान पड़ते।'"[2] यहाँ स्पष्ट है कि डॉ0 द्विवेदी हिन्दू की परिभाषा करने में अस्पष्ट हो गये है। डॉ0 द्विवेदी के मतानुसार जब कबीर 'हिन्दू' उसे कहते हैं जो वेद को मानने वाला हो, ब्राह्मण हो, पौराणिक हो तो उस स्थिति में कबीर क्या ठहरते हैं? क्या ऐसी स्थिति में डॉ0 द्विवेदी का यह कथन तनिक भी ईमानदारी का ठहरता है कि और चाहे कुछ भी हों, परन्तु कबीर अवैष्णव नही हैं? परिभाषा कि सबसे अच्छी बात है कि कोई मनुष्य मुसलमान होता है या ईसाई होता है। मुसलमान होने में या ईसाई होने में इस बात की जरूरत नही रहती किसी को गैर–मुस्लिम या गैर–ईसाई कहा जाए। लेकिन हिन्दू का काम 'परिभाषाओं की इस स्पष्टता से नहीं चलता। वे कबीर की जोरदार आपत्ति के बावजूद, हर बात को उलझाए रखते हैं। हिन्दू की परिभाषा 'हिन्दू' होने के नाते नही दी जाती बल्कि किसी के 'अहिन्दू' न होने से दी जाती है। हिन्दू विधि के द्वारा यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर आदि साध्कों, यौगियों और सिद्धों की बात करत हुए लिखा है कि ये सन्त भारतीय परम्परा में पड़ते है और उनकी आत्मा में वेदान्त का ज्ञान है। उन्होंने 'कबीर' की प्रभावशीलता की व्याख्या करते हुए लिखा है– "मेरा

विचार यह है कि ऐसी बाते समाज के किसी न किसी स्तर में वर्तमान तो जरूर थी, पर अधिकांश में उन लोगों द्वारा प्रचारित हाती थीं जो शास्त्र और वेद नहीं मानते थे। फिर जन साधारण में प्रचलित पौराणिक ठोस रूपों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। कबीरदास ने गुरू रामानन्द से शिष्यत्व ग्रहण करके जन साधारण में उनकी शास्त्र-सिद्धता का विश्वास पैदा किया और राम-नाम को अपनाकर जन-साधारण के परिचित भगवान से अपने भगवान की एकात्मता साबित की। उन्होंने रूपको द्वारा, योगकर्म, वैष्णवमत आदि-अत्यधिक प्रचलित जनमत की अपने ढंग पर व्याख्या करके जन-साधारण का विश्वास अर्जन कर लिया। इस प्रकार एक बार शास्त्र और लोक विश्वास का नाममात्र का सहारा पाते ही यह मत देश के इस सिरे से उस सिरे तक फैल गया।''[1] परन्तु द्विवेदी जी के उपरोक्त मतों का डॉ0 धर्मवीर ने खण्डन करते हुए अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि ऐसा लिखते समय डॉ0 द्विवेदी यह क्यों भूल गये कि कबीर की वास्तविकता लड़ाई लोक और वेद दोनों से थी? आखिर कबीर साहित्य की दन दो पंक्तियों का कुछ अर्थ अवश्य निकाला जाना चाहिए था- "पीछे लागा जाय था, लोक वेद के साथ।"[4] हुआ यह है कि कबीर लोक और वेद के रास्ते से अलग हटे हैं, लेकिन यहाँ डॉ0 द्विवेदी बिल्कुल उलटी बात बता रहे हैं कि लोक-वेद के जरा से स्पर्श से कबीर महान हो गये थे।

डॉ0 धर्मवीर का मानना है कि ''कबीर वेद, शास्त्र और पुराणों से छत्तीस का नाता करके बैठे थे, डॉ0 द्विवेदी उन्हें बार-बार

वेदशास्त्र और पुराणों के नजदीक करके दिखाते हैं। डॉ0 द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में सबसे ज्यादा चतुराई का पाठ 'भारतीय धर्म–साधना में कबीर का स्थान' के शीर्षक का लिखा है। देखने की चीज यह है कि यह शीर्षक सही नहीं है। ऐसा क्यों नही है? डॉ0 धर्मवीर के मत से चतुराई यह है कि जब डॉ0 द्विवेदी पर यह मानने का दबाव बढ़ा है कि कबीर हिन्दू नहीं है, तो उनहोंने यह कह दिया है कि कबीर भारतीय है। उन्होंने यह कहना पसन्द नही किया कि कबीर हिन्दू नहीं है तब वे दलित से अपनी दुश्मनी का लाभ उठाना चाहते हैं। लेकिन इस बारे में दलित की तरफ से यह कहा जाना शेष है कि जब दलित अपने देश को बचाता है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह हिन्दू धर्म को बचाता है। जब दलित अपने घर की रक्षा करता है तो इसका मतलब यह नहीं है कि वह ब्राह्मण के घर पर पहरेदार तैनात हो गया है। डॉ0 द्विवेदी ने कबीर के बारे में यही भ्रम पाला है कि अपने युग में कबीर हिन्दू धर्म को बचाने के लिए कमर कस कर खड़े हो गये थें।"[5]

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण हिन्दुस्तान में सबसे अलग कौम हैं। ब्राह्मण का अन्य कौमों के प्रति सम्मान का भाव नहीं है। यह कभी आर्य बन जाता है, कभी हिन्दू बन जाता है और कभी भारतीय बन जाता है। ब्राह्मण जब आक्रमण करता है तो हिन्दूस्तान की सभी कौमों पर ब्राह्मण बनकर आक्रमण करता है। इसमें वह आर्य, हिन्दू, और भारतीय हो जाता है। यह इसकी दोहरी नीति है। इसने भारत में अपने सिवा किसी का सम्मान नही किया लेकिन

बचाव में आर्य, हिन्दू और भारतीय हो जाता है।

प्रस्तुत आलोचना में आर्य, हिन्दू और भारतीयता के भीतर छिपे इसी ब्राह्मण की खोज की जा रही है। देखा जा रहा है कि कबीर के सन्दर्भ में ब्राह्मण धर्म चिन्तन के स्तर पर क्या-क्या रंग बदलता है। यह आर्यों से भिन्न है क्योंकि आर्यों में क्षत्रिय भी है, यह हिन्दुओं से भिन्न है क्योंकि हिन्दुओं में गैर मुसलमान भी है और यह भारतीयों से भिन्न है क्योंकि भारतीयों में ईसाई और मुसलमान और अन्य भी हैं। हिन्दू कुछ भी भारतीय नही है जब वह ब्राह्मण बनकर किसी को अछूत कहता है। लेकिन ब्राह्मण के रूप में समाज पर सारे आक्रमण करके ब्राह्मण भारतीयता के कवच में दूसरों के आक्रमण को उका जाता है। वास्तव में, सारे कर्म अभारतीयता के करने के बाद भारतीयता ब्राह्मण की शरण स्थली नहीं बनने देना चाहिए जो सिद्धान्तहीन है।

भारत के इतिहास की दलितवादी व्याख्या

हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ आलोचक प्रो0 नामवर सिंह द्वारा उठाये गये मुद्दे पर कुछ ज्यादा चर्चा की जा सकती हैं। बात यह है कि भारत में राजाओं और ब्राह्मणों की भूमिका सदा एक सी नहीं रही है। पुराणकाल को दूर रखे तो इतिहास में बुद्ध से लेकर आधुनिक स्वतंत्रता संग्राम तक का काल सामने आता है। इस काल को चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है- बौद्धकाल, ब्राह्मण काल,

मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल। असल में ये चार धर्म हैं। यदि इन धर्मों की भूमिका के बिना भारत को देखने की कोशिश की जाय तो भारतीय इतिहास के ढाँचे में केवल निरर्थक तथ्य ही मिलती है।

बौद्ध काल में राजाओं को सबसे ज्यादा महत्त्व मिला बौद्ध वर्ण–व्यवस्था से इस बात का सही–सही पता चलता है। बौद्ध वर्ण–व्यवस्था में भी चारवर्ण है लेकिन उसमें ऊपर के दो वर्णों का क्रम बदला हुआ है। यह क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शुद्र के क्रम की वर्ण–व्यवस्था हैं। लेकिन असली मुद्‌दा यह है कि बौद्ध–काल में भी इस देश में विदेशी आक्रमण आए लेकिन वे सारे आक्रामक लोग बिना धर्म के आए थे। उनके पास अपना कोई धर्म नहीं था वे राजनैतिक विजेता के रूप में इस देश में आये थें। जरूरत पड़ने पर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाया करते थें। लेकिन बाद में बौद्धों को ब्राह्मणों ने पीट लिया था।

ब्राह्मणों की तरफ से इस युद्ध की अगुवानी शंकराचार्य ने की थी। तब ब्राह्मणों का राजाओं पर और बाकी समाज पर एक छत्र दबदबा कायम हो गया था। लेकिन मुस्लिम काल में विशेषता यह रही कि यह विदेशी आक्रमण राजनेता के साथ–साथ एक धर्म के रूप में भी आया था। इससे बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म दोनों सकते में रह गये। बौद्ध काल के विदेशी हमलावर धर्म के क्षेत्र में बौद्ध बन जाया करते थे। लेकिन इस बार उनके पास अपना अलग मजहब इस्लाम था। बौद्ध लोग इस्लाम से धर्म के रूप में भी पिटे और राजा के रूप में उन्हें ब्राह्मण ने पहले ही पीट रखा था। ब्राह्मण लोग

इस्लाम से धर्म के रूप में पिटे और राजनैतिक सत्ता के रूप में उन्होंने राजाओं में कोई दम नही छोड़ रखा था। इसलिए मुस्लिम काल को भारत में धर्म के रूप मे विशेष रूप से देखा जाना चाहिए।

यह एक खास बात है कि मुस्लिम काल में हिन्दू समाज का नेतृत्व हिन्दु राजाओं के हाथ से निकल चुका था। नेतृत्व ब्राह्मणों और दलितों के हाथ में आया। हिन्दी साहित्य के तथा कथित पूरे भक्ति काल में क्षत्रियों, राजाओं या ठकुरों में कोई बुद्ध जैसा या बुद्ध से कुछ कम भी धार्मिक या साहित्यिक नेतृत्व देने वाला व्यक्ति पैदा नहीं हुआ। राजनैतिक सत्ता के क्षेत्र में वे तुर्क सुलतानों और मुगल बादशाहों से हार ही चुके थें। यही कारण रहा कि एक ओर नेतृत्व ब्राह्मण रामानन्द के हाथ में रहा। इस पर्दे पर ठकुर जात गायब है।

भारत में ब्रिटिश काल की भी लगभग यही स्थिति रही। अंग्रेज भी इस देश में ईसाइयत के रूप में आये थें। उन्होंने इस देश को राजनेता के रूप मे जीता था, लेकिन उन्हें धर्म के रूप में बौद्ध के गौण और लुप्त प्राय हो जाने पर हिन्दू या मुसलमान बनने की जरूरत नहीं थी। इस काल में भी इस देश का नेतृत्व क्षत्रिय राजाओं और ठकुरों के हाथ से छिना रहा। जहाँ तक केवल हिन्दुओं का सवाल है, मुख्य नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में रहते हुए बाद में नेतृत्व एक वैश्य गाँधी के हाथ में रहा था। दलितों का सच्चा और सबल नेतृत्व डॉ० अम्बेडकर ने किया। मुख्य भूमिका के रूप में क्षत्रिय फिर गायब हैं। क्षत्रियों ने खुद में से न कोई गाँधी जैसा

आदमी पैदा किया, न टैगोर जैसा साहित्यकार और न नेहरू जेसा राजनेता, और न अम्बेडकर जैसा महान दलित। 'स्वतन्त्रता संग्राम' में राजाओं की भूमिका असमंजस की होकर रह गई थी। इसी सन्दर्भ में डॉ0 धर्मवीर पुनः कहता है कि "यदि कबीर भारत में मुसलमानी आगमन की देन थे तो डॉ0 अम्बेडकर ईयाइयत के प्रभाव का परिणाम है।"[6]

डॉ0 धर्मवीर का कथन है कि "मेरे कई मित्रों ने मुझे सलाह दी है कि मैं डॉ0 अम्बेडकर को ईसाइयत के प्रभाव के परिणाम के बजाय पाश्चात्य प्रभाव की देन मान लूँ तो प्रो0 नामवर सिंह के लिए सही जवाब हो जाएगा। लेकिन मैं अपने मित्रों की इस सलाह से सहमत नही हूँ। मेरा मनना है कि यदि इस देश में तुर्क और इस्लाम के रूप में न आए हुए होते तथा बाद में अंग्रेज ईसाई के रूप में न आए हुए होते तो यहाँ दलितों के नेतृत्व को धोखा देते हुए तथा तुर्कों, मुगलों और अंग्रेजों को बौद्ध बनाते हुए फिर कोई नये बुद्ध पैदा हो गये होते। अब कबीर और अम्बेडकर के रूप मे दलितों का धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक नेतृत्व, कबीर का जनम मुसलमान के घर में होने के बावजूद तथा डॉ0 अमबेडकर के बौद्ध हो जाने के बाद भी, खुद दलितों के पास हैं। बौद्ध काल और ब्राह्मण कालमें दलितों की पहचान मिटी-मिटी सी है, जबकि मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल नही है तो बौद्ध काल और हिन्दू काल में अदल बदल कर क्षत्रिय और ब्राह्मण ही इतिहास के हीरो और नेतृत्व करता बने रहते। तब दलित और वैश्य पर्दे से लगभग गायब रहते।

इनके बजाय पुराणों के काल में 'शम्बूक' और एकलव्य शूद्र के रूप में अपनी लड़ाई लड़ते हुए पृथक पहचान के मिलते हैं। मेरी दृष्टि में अच्छा होता यदि बौद्ध काल में सुंप्पियभंगी बुद्ध को अपने दलित धर्म में दीक्षित करते। लेकिन इसका उल्टा होकर इतिहास की दिशा को भारी धोखा और आघात पहुँचा है। उस नुकसान की भरपाई आज तक नहीं हो पाई है क्योंकि इसी एक घटना के कारण अस्पृश्यता तब से लेकर आज तक मौजूद है और संविधान के महती प्रयासों के बावजूद समाज से मिटी नहीं है। नाई उपालि भिक्षुओं के बाल और दाढ़ी-मूँछ काटते रह गये हैं तथा सुप्पिय भंगी बौद्ध विहारों में झाडू लगाते रह गये हैं। यह किसी तरह का सामाजिक परिवर्तन और विकास नहीं था।"[7]

अन्त में कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से कबीर ने इस्लाम से और डॉ0 अम्बेडकर ने ईसाईयत से खुद को कोशिश कर दूर रखा है लेकिन गलती तब हो जाती है जब कबीर की व्याख्या ब्राह्मण 'रामानन्द' के माध्यम और 'डॉ0 अम्बेडकर' की व्याख्या क्षत्रिय बुद्ध के माध्यम से की जाती है। सच्चाई यह है कि यदि कबीर और अम्बेडकर क्रमशः मुसलमान और ईसाई नहीं है तो वे हिन्दू और बौद्ध भी नहीं हैं। दलित के लिए बौद्ध धर्म को वजन बाबा साहेब ने दिया हैं। एक सही बात कही जा सकती है कि दलित के मन में बाबा साहेब का दर्जा बुद्ध से बड़ा है। दलितों के दिमाग में हजारों दूसरे बुद्ध पैदा हो सकते हैं। लेकिन उनके हृदय में दूसरा बाबा साहेब पैदा नहीं हो सकता। बाबा साहेब दलितों के सच्चे हृदय-सम्राट

हैं और यह वर्तमान में भी देखने को मिल रहा है।

डॉ० धर्मवीर का मानना है कि "डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को लेकर हिन्दी साहित्य की आलोचना में सबसे बड़ा भ्रम यह कह कर फैलाया है कि 'कबीर मूलतः भक्त थे'। उनके इस एक झूठे कथन से सारा सन्दर्भ ही बदल गया था। सब इस फालतू बहस में पड़ गए कि कबीर मूलतः भक्त है या मूलतः समाज-सुधारक हैं। सोच इससे आगे भी जाती हैं। वह सोच यह है कि हिन्दी साहित्य के अध्ययन के नाम पर कबीर की बहुत छोटे या भिन्न लोगों से तुलना हो रही है। सीधी बात पर आने पर यह ज्ञात होता है कि कबीर की तुलसी और सूर से तुलना की जा रही है जो एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। यह सम्भव इसलिए हुआ है क्योंकि कबीर को मात्र एक भक्त मान लिया गया है। चूँकि तुलसी और सूर भक्त है इसलिए कबीर के मुकाबले में उन्हें खड़ाकर दिया जाता है। इस तुलना में यह बात एकदम भुला दी जाती है कि कबीर तुलसी और सूर की तरह भक्त नहीं है। किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि कबीर की तुलना तुलसी और सूर से नहीं की जानी चाहिए क्योंकि कबीर की टक्कर तुलसी और सूर के आराध्य देवों 'राम' और 'कृष्ण' से है। इसलिए, इस दृष्टि को लेकर कबीर की तुलसी और सूर से कोई समानता नहीं है। तुलसी और सूर भक्त हैं जबकि इस मामले में कबीर के सामने तुलसी और सूर बहुत छोटे जीव हैं। कहने का मतलब यह है कि दलितों के भगवान की तुलना द्विजों के भक्तों से नहीं की जा सकती। यदि कबीर की तुलना की जानी आवश्यक

हैं तो उनकी तुलना बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, राम और कृष्ण से की जानी चाहिए न कि इनके शिष्यों या भक्तों से।''[8]

डॉ0 पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे साहित्यिक विद्वान की सीमा यह है कि वे कबीर को पैगम्बरों और मसीहाओं की परम्परा और क्रम में नही देख पाए। इसलिए कबीर की वाणी को समझने की सही सोच यही है कि यदि आवश्यक हो तो उनकी तुलना राम ओर कृष्ण से हो, न कि राम और कृष्ण के भक्तों, तुलसी और सूर से। कबीर की तुलसी से तुलना हो सकती थी यदि कबीर भी दशरथ सुत 'राम' के भक्त होते। तब दो भक्तों में तुलना करने की गुंजाइश थी। लेकिन यहाँ कबीर तुलसी के अराध्य देव राम को दशरथ सुत कहकर पीछे छोड़ देते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भारतीय सन्दर्भ में कबीर भगवानों की श्रेणी के थे न कि भक्तों कि श्रेणी के। कबीर अपना ताल्लुक उस राम से रखते हैं जिसे अपने जीवन में दशरथ सुत राम भी खोजते फिरे थे। लेकिन ब्राह्मण चिन्तन ने दलितों के निर्गुण भगवानों की भी अपने सगुण भक्तों से तुलना कर डाली। उससे भी बढ़कर यह है कि दलितों के भगवानों को अपने भक्तों से छोटा सिद्ध करते हैं। उन्हें फक्कड़ और लापरवाह कहते हैं। जो अतुलनीय हैं।

डॉ0 धर्मवीर के कथनानुसार ''तुलसी के राम ने शम्बूक का वध किया था लेकिन कबीर ने प्राचीन शम्बूकों की मूक सन्तानों को पुनः वाणी दी है। इस दृष्टि से कबीर की तुलना सूर और तुलसी से कहाँ हो सकती हैं? इसलिए कहा जा रहा है कि कबीर

में भारतीय सन्दर्भ के भगवान तथा विदेशी सन्दर्भ के पैगम्बर के सारे गुण मौजूद हैं। वे भक्त के रूप में भगवान की खोज करने नही गये बल्कि भगवान के रूप में अपना आपा खोज कर गये हैं। इसके अलावा भगवान जब आता है तो वह किसी शास्त्रीय भाषा में नहीं बोला करता है बल्कि अपना शास्त्र खुद लेकर आता है। वह शास्त्रीय भाषाओं को लोक भाषा में ललकारता है। कबीर ने यह काम पूरा और बखूबी किया है। भगवान् किसी शास्त्र का मोहताज नही हुआ करता, बल्कि पुराने और स्थापित शास्त्रों से उसकी लड़ाई छिड़ जाती है। कबीर के साथ भी यही हुआ है।''[9]

आज के हिन्दू लेखक कबीर की हिम्मत की दाद दे सकते हैं कि वे चार वर्णो की व्यवस्था से जूझे थें लेकिन वे उनकी इस सामाजिक लड़ाई की प्रशंसा न करके उलटे वैदिक विधान के अधिकारी-भेद पर चोट न होने देकर, कबीर के पद 'राम की बहुरिया' के ज्यादा गुण गाते हैं। वे कबीर की सम्पूर्णता का लाभ उठाकर कबीर को आधा काट देना चाहतें है। वे उनके भगवान से प्रेम और विरह के पदों और सखियों की व्याख्या करते हैं लेकिन कबीर के सामाजिक विद्रोह के सामने चुप्पी साध जाते हैं। उन्होंने कबीर को पढ़ने की अनिवार्यता में सामाजिक कबीर को प्रतिबन्धित कर दिया।

सच्ची बात तो यह है कि यदि कबीर का सामाजिक पृथकता का सन्देश भुला दिया जायेगा तो कबीर का अध्यात्म पूरा ही नहीं होगा। कबीर या कबीर जैसे किसी भी व्यक्ति के लिए हिन्दू समाज की बाड़ को तोड़े बिना अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश पाना

एकदम असम्भव है। जिस दलित समाज के लिए भगवान का भजन करना निषिद्ध है, उस समाज के सन्तों के सामाजिक संघर्ष को नेपथ्य में छोड़कर केवल भगवान से प्रीत के उनके गान को महत्व देना एक साजिश लगती है। यह कोई बात नहीं हुई कि 'कवि कबीर की खोज' में जब सच्ची कविता से सामना पड़ जाय तो उसे कविता न माना जाए। रोज-रोज भगवान के दर्शन के लिए प्रार्थना करते रहें और जब भगवान सामने आकर खड़ा हो गया तो उसे मानने से इन्कार करने लगें। आखिर दलित की कविता ब्राह्मणी कविता के मानदण्ड को तोड़कर सामने आएगी। खोज को समुद्र में केवल द्वीप की खोज करना हैं। अब वह कैसी द्वीप होगा इसमें उसकी क्या चल सकती है? निरपेक्ष की खोज में यदि सापेक्ष की खोज हो जाती है तो उसकी कद्र की जानी चाहिए। उधर पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' कविता की आधी लाइन 'ब्राह्मण समाज में क्यो अछूत'[10] लिखनें के कारण दलित साहित्य के पुरोधा मान लिए गये हैं। लेकिन 'ब्राह्मण समाज में क्यों अछूत' की उपमा में कुछ भी शक्ति नहीं है।

कबीर के साहित्य का मुल्यांकन करते हुए डॉ० द्विवेदी लिखते हैं- "काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल।"[11] डॉ० धर्मवीर के मत से "डॉ० द्विवेदी की यह सही सोच नहीं है। ऐसा कहने में डॉ० द्विवेदी का मूल लक्ष्य कबीर को धर्म पुरूष सिद्ध करना है कि उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए। वे कबीर को किसी अन्य रूप में देखना नहीं चाहते है। लेकिन सच्चाई इसके विपरीत है। वास्तव में जब

डॉ0 द्विवेदी काव्यगत रूढ़ियों की बात करते हैं। तो संस्कृत काव्यगत रूढ़ियों की बात करते है । यह उनका बिल्कुल ऐसा प्रयास हैं कि चिन्तन के स्तर पर कबीर के दर्शन को वेद और पुराण की कसौटी पर करेंगे। उन्हें समझना चाहिए था कि जैसे कबीर के दर्शन को वेद और पुराण की कसौटी पर कसना कबीर के साथ ज्यादती है वैसे ही कबीर के काव्य को संस्कृत परम्परा की काव्यगत रूढ़ियों पर कसना बेमानी है।''[12]

डॉ0 द्विवेदी के उपरोक्त कथन से यही साबित होता है कि कबीर काव्य क्या है – इसे वे नहीं जानते थे। डॉ0 द्विवेदी ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि कबीर का अपना अलग काव्य–सौन्दर्य हो सकता है जो संस्कृत की परम्परा से भिन्न और अलग है। जैसे डॉ0 द्विवेदी ने वेद और पुराण की कसौटी पर कबीर के दर्शन को कसकर कहा है कि "वेद–पुराण में वही नही हैं जो कबीरदास ने कहा है कि"[13] वही परम्परा उन्होंने कबीर के काव्य को लेकर निभाई है। जैसे वे यह खोज नहीं करते हैं कि वेद–पुराण को छोड़कर कबीर का अपना दर्शन क्या है वैसे ही वे संस्कृत काव्य को छोड़कर यह नही मान पाते हैं कि कबीर अपनी अलग परम्परा के कवि है। जैसे उन्होंने कबीर के दर्शन की खोज नहीं की, वैसे ही उन्होंने कबीर के काव्य की खोज नहीं की। वास्तव में अपनी ऐसी ब्राह्मणी सोच के कारण वे जुलाहे कबीर की कविता का रसास्वादन करने से वंचित ही रह गये।

डॉ0 धर्मवीर का कथन है ''जहाँ–जहाँ उन्हें कबीर जुलाहे दीखे, वहाँ–वहाँ से उन्होंने अपनी आँख हटाली है। कबीर की कविता

का मर्म समझने के लिए डॉ0 द्विवेदी को जुलाहा होना चाहिए था? यदि वे ब्राह्मण होकर कबीर की कविता को समझनें की क्षमता रखते तो उन्होनें जुलाहे वाले कबीर के लिए संदेह की स्थिति क्यों कर दी?"[14]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को 'दलित' माना है। वे लिखते हैं – "वे दरिद्र और दलित थे, इसलिए अन्त तक वे इस श्रेणी के प्रति की गई उपेक्षा को भूल न सके।"[15]प्रो0 नामवर सिंह ने कबीर के बारे में लिख गये डॉ0 द्विवेदी ने इन 'दलित और दरिद्र' के शब्दों को बहुत महत्व देना चाहा है। लेकिन इस बारे में मुझे यह कहना है कि डॉ0 द्विवेदी के ये शब्द मात्र शब्द है। इनका 'दलित साहित्य' और 'दलित चिन्तन' से कुछ भी लेना-देना नहीं है। समझने की बात यह है कि तत्कालीन द्विज विद्वानों के लेखन में दलित शब्द का अर्थ क्या हैंडॉ0 धर्मवीर का डॉ0 रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी अपनी पुस्तक 'संस्कृत के चार अध्याय' में इस शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने 'इकबाल' को "दलितों का कवि"[16] कहा है।

डॉ0 धर्मवीर के मत से "यूँ, ये दलित चिन्तन और दलित साहित्य की धारा के वास्तविक दलित नहीं है। ये हिन्दू विद्वान किसी भी शब्द का कुछ भी अर्थ लगा सकते है। दलित चिन्तन को इनसे सदा चौकस रहने की जरूरत है। सबसे ज्यादा दरिद्र 'सुदामा' ब्राह्मण बन जाते है और यहाँ इन्होनें इकबाल को दलित जाति का कवि कह ही दिया है।"[17]

डॉ0 द्विवेदी का मत है "कबीर की दृष्टि में भेदभाव का रहना इसलिए अन्याय मूलक नहीं था कि उसमें एक श्रेणी के मनुष्यों पर निर्दयता काव्यवहार हो रहा है और वह मनुष्य का कर्त्तव्य होना चहिए कि उन दलित मनुष्यों को भी अपनी बराबरी का समझे। वे स्वयं उस लांछन को भोग चुके थे। इसीलिए उनकी उक्तियों में उस विधान के लिए जो लोग उत्तरदायी है, उन पर खुला आक्रमण किया गया है।" यहाँ डॉ0 द्विवेदी कबीर को तार्किक न मानकर केवल भुक्त भोगी मान रहे हैं। जाना जा सकता है कि डॉ0 द्विवेदी के इस वाक्य का ?क्या अर्थ है – 'कबीर की दृष्टि में भेदभाव का रहना इसलिए अन्याय मूलक नहीं था कि उसमें एक श्रेणी के मनुष्यों पर निर्दयता का व्यवहार हो रहा है और वह मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए कि उन दलित मनुष्यों को भी अपनी बराबरी का समझे।' यहाँ डॉ, द्विवेदी की इस वाक्य का विश्लेषण किया जा सकता है। अर्थ में क्या फर्क पड़ जायेगा यदि पदबंध 'अन्याय मूलक नहीं था' में से शब्द 'नहीं' निकाल दिया जाय? तब वाक्य इस प्रकार होगा– "कबीर की दृष्टि में भेदीभाव का रहना इसलिए अन्याय मूलक था कि उसमें एक श्रेणी के मनुष्यों पर निर्दयता का व्यवहार हो रहा है, और वह मनुष्य का कर्त्तव्य होना चाहिए कि उन दलित मनुष्यों को भी अपनी बराबरी का समझे।" दलित चिन्तन डॉ0 द्विवेदी के वाक्य के इस परिवर्तित रूप को ही कबीर का विचार मानता है और डॉ0 द्विवेदी के मूल वाक्य के अर्थ को गलत मानता है।

डॉ धर्मवीर के मत से "चालाकी यह है कि यहाँ भी डॉ0 द्विवेदी कबीर को व्यक्तिगत बनाकर छोड़ रहे हैं और इस बात से खुलकर इन्कार कर रहे हैं कि कबीर का उद्देश्य समाजगत था। डॉ0 द्विवेदी कह रहें है कि चूँकि कबीर व्यक्ति रूप में खुद भुक्त भोगी थे इसलिए उन्होंने उत्तरदायी लोगों पर आक्रमण किया है अन्यथा समाजगत विचार से उनका कुछ लेना देना नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है कि दलित जातियों के इतने बड़े चिन्तक कबीर के सामाजिक नेतृत्व को डॉ0 द्विवेदी भाषाई चमत्कार में फूँक की तरह हवा में उड़ा रहे हैं। ये विद्वान महोदय कबीर में क्रान्ति की और नेतृत्व की शक्ति छोड़ ही नही रहें है। क्या इन महोदय की बात एक पल के लिए भी स्वीकार की जा सकती है?"[18]

डॉ0 वीर भारत तलवार धर्म को लेकर डॉ0 द्विवेदी के चक्कर में आ गये थे कि कबीर ने धर्म की व्यक्तिगत साधन की थी लेकिन यहाँ क्या है? यहाँ धर्म का सवाल नहीं हैं बल्कि सीधी दलित जातियों का और उनके साथ गैर-बराबरी का निर्दयता का और अन्याय का खुला सवाल है। ऐसी स्थिति में भी डॉ0 द्विवेदी कबीर को केवल व्यक्तिगत विद्रोही बता रहे हैं अर्थात् समाज के लिए उनके पास कोई सन्देश नही है। यह हद है – किसी विरोधी के मिशन को इतना नहीं झुठलाया जा सकता। डॉ0 द्विवेदी ने कबीर में से पूरा कबीर बाहर निकालकर फेंक दिया है। अब वे दुनिया को दिखाने के लिए कबीर की हड्डियों का ढाँचा लिए फिरते हैं। डॉ0 तलवार इस जगह जरूर सोचें कि उनके डॉ0 द्विवेदी उन्हें क्या सबक दे रहे हैं।

वास्तव में डॉ0 द्विवेदी ने कबीर को सारी दलित जातियों का नेतृत्व देने के बजाय उन्हें जुलाहा भी नहीं रहने दिया है। उन्होनें उन्हे जुलाहों से भी निकाल कर केवल एक व्यक्ति बना दिया है।

इसी सन्दर्भ में डॉ0 नामवर सिंह के कथन का विश्लेषण किया जा सकता है। उन्होंने कबीर को 'कालजयी कवि' माना है लेकिन इससे दलित चिन्तन को कोई आपत्ति नहीं है। सवाल यह है कि क्या दलित लोग अपने समाज से कालजयी कवियों को जन्म नहीं दे सकते? यदि उन्होंने कबीर के रूप में एक कालजयी कवि को जन्म दे दिया है तो ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि अब कबीर दलित नही है या कबीर दलितों के नही रह गये हैं? रवीन्द्र नाथ टैगोर को काव्य के लिए नोबल पुरस्कार मिल गया तो क्या हिन्दू उन्हें गर्व से हिन्दू और बंगाली उन्हें गर्व से बंगाली नही कहते? इससे उलटे जातियाँ, राष्ट्रों और धर्म का गौरव बढ़ता है।

लेकिन संसार में केवल एक दलित जाति के बारे में ही यह अजीब तर्क चलाया जाता है कि यदि दलित अपने में से किसी महाकवि को पैदा कर देते है तो वह महाकवि द्विजों द्वारा–दलितों से छीन लिया जाता है। जबकि संसार की सारी जातियाँ अपने महापुरूषों से रागात्मक रूप में बंधा करती है, यहाँ दलित जातियों को दलित महापुरूष से अलग हटाया जाता हैं और उस महापुरूष को विधवा ब्राह्मणी की औलाद, ब्राह्मण गुरू का शिष्य, पिछले जन्म का ब्राह्मण या वैष्णव करार दे दिया जाता है। यह विचारणीय है कि शोषण की इस प्रक्रिया को कौन–सा नाम दिया जा सकता है। इसलिए डॉ0

द्विवेदी से पूछा जा सकता है कि यदि कबीर को सही परिभाषा का दलित मानते हैं तो दलित चिन्तन द्वारा कबीर के उपयोग को दुरूपयोग कैसे कहा जा सकता है ?

समीक्षा

डॉ0 धर्मवीर ने डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के ब्राह्मणवादी विचारों को संज्ञान में रखते हुए ही वास्तविकता का निराकरण किया है। डॉ0 धर्मवीर अपने विचार मीमांसा में ब्राह्मण को स्वाहित और स्वार्थ को विशेष महत्व देने वाले के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में राष्ट्र धर्म, हो या ब्राह्मण धर्म सभी एक है, और जो ब्राम्ह्मणों के महत्व को ध्यान में रखकर ही बनाये गये है। ब्राह्मण अपने धर्म को ही कर्म मानते आये है। जिस कर्म को धर्म माना गया है। वह व्यवहारिक रूप में इनके द्वारा, जाति-पात, छुआ-छूत, आडम्बर, पाखण्ड आदि से परिपूर्ण बना दिया गया है।

ऐसी परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि जो राष्ट्र धर्म और न्याय है। जिसे हम संविधान की मूल आत्मा मानते है। अपने व्यवहारिक दृष्टि में कहा तक कार्य करने में सफल हो सका है। कहने के लिए तो संविधान और सरकार दोनों, समाज सुधार के लिए कटिबद्ध हैं। परन्तु यथार्थता आज भी कुछ और ही सामने देखने को मिल रहा है। कितने दलितों को अपने अधिकार और न्याय के लिए आज भी अपामान; तिरस्कार और निन्दा सहना और झेलना पड़ रहा है। महापुरूष कबीर ने अपने समय में इन विकट परिस्थितियों को

आँखों से देख रखा था, और इस अन्याय को साधारण रूप से सहने वाले वे नहीं थें। उन्होंने इस अन्याय से लड़नें के लिए ही समाज के कुण्ठित और दुःखी लोगों को अपने कटु सत्य विचारों से अवगत कराया था, और उन्हें इससे स्वयं लड़ने के लिए साहस प्रदान किया था। इतना ही नहीं इसका नेतृत्व वे खुद कर भी रहे थे, जो तत्कालीन परिस्थितियों में बहुत ही जोखिम का कार्य था।

यह सामाजिक विभेदीकरण ही समाज में आज अराजकता और हिंसा के लिए निःसन्देह मूल कारण बने है। जिसका वृक्ष यथार्थ रूप में कबीर के युग में ही लगा दिया गया था। आज वह अपने प्रौढ़ावस्था में सामने प्रस्तुत है। इन जटिल परिस्थितियों से समाज और राष्ट्र को मुक्त कराने में शासन और पुलिस भी असक्षम दिख रहा है।

अतः वर्तमान समय में 'कबीर' जैसे महान पुरुष की विशेष आवश्यकता है, जो समाज में अपने अलौकिक विचारों के द्वारा क्रान्ति लाकर एक नये युग का निर्माण पुनः कर सकते हैं। तभी समाज का कल्याण हो सकता है तथा दलितों और गरीबों को अपने अधिकार और कर्तव्य का अभिष्ट ज्ञान हो सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०- 10
2. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०- 10
3. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली, पृ०- 70
4. डॉ० युगेश्वर, कबीर समग्र, पृ०- 26
5. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-21-23
6. डॉ० धर्मवीर, के आलोचक वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ०-41
7. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-46-47
8. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-109
9. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-110
10. सं० राम विलास शर्मा, राग विरागः महाकवि निराला की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संकल्न, पृ०- 66
11. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०- 217
12. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-122
13. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ०- 217
14. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली, पृ०- 111
15. राम धारी सिंह 'दिनकर', संस्कृत के चार अध्याय, पृ०-718
16. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली, पृ०- 111
17. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली, पृ०- 73
18. डॉ० धर्मवीर, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ०-124

चतुर्थ अध्याय

कबीर विषयक समाजवादी (जनवादी) समीक्षा

यह तथ्य सर्वविदित है कि सद्‌गुरू कबीर का कलियुग में अन्तिम बार आगमन चौदहवी शताब्दी के मध्य में हुआ था। वह समय सामन्तवाद का युग था। तत्कालीन युग में धर्म, समाज और राज्य के अन्तद्वन्द वैमनस्यता, असहिष्णुता की ज्वाला धधक रही थी। भारत में ऐसे महान पुरूष की आवश्यकता थी, जो इस विषम परिस्थिति में उद्धार कर एक जीवनोपयोगी साधना और सिद्धान्तों का मार्ग बतलाये जिस पर अग्रसर होकर जनता अपनी प्रगति कर सके। कबीर साहब ऐसे ही महापुरूष थे। उन्होंने अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ा, और न ही पीछे कदम रखा।

वे समाज में रहकर और समाज के निम्न वर्गों में घुल-मिलकर उन्हें प्रेम और एकता का दिव्य सन्देश देते रहे। जातीय विद्वेष और सामाजिक घृणा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा जो मानवता से विचलित हो रही थीं। उसे उन्होंने ऊपर उठाया। इस युग में सर्व साधारण जनता की धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक गुलामी बन्धनों को और कठोर बनाने के लिए विधि-विधान, तीर्थाटन, स्नान, छूआछूत, कर्मकाण्ड आदि बाह्याचारों की श्रृंखला को सुदृढ़ बनाया गया था। सद्‌गुरू कबीर ने इन सभी का कड़ा विरोध कर अध्यात्मवाद की प्रतिष्ठा की थी। इसकी उपासना के लिए किसी जाति, कुल, आचार, सम्प्रदाय और धर्म की सीमा का बन्धन नहीं था। सबका होकर भी यह सबसे पृथक था।

मानव समाज के निवारण के लिए वे समाज रूपी रोग निवारण के लिए भी वे उन्हीं को शिक्षा देते हैं। यह उपयुक्त भी है, क्योंकि व्यक्तियों से पृथक् समाज की कोई निजी सत्ता नहीं होती। समाज के गरीब होने का अर्थ है उसके सदस्यों का गरीब होना, यदि समाज को सुधारने का लक्ष्य है तो उसका स्पष्ट उपाय उनके सदस्यों में सुधार लाना है, कबीर साहब एक समाज को समाप्त करके दूसरे समाज की स्थापना की चिन्ता नहीं करते, बल्कि उसका रूप बदल देते हैं। सामाजिक विषमता के बने रहने का एक मुख्य कारण आर्थिक स्थिति है।

समाज में कुछ ऐसे पूँजीपति होते हैं। जिनके पास धन की अधिकता रहती है और शेष जनता के पास केवल धन का नाममात्र कुछ ही भाग रहता है। पूँजीपति विलासिता और वैभवशाली जीवन जीते हैं जबकि जनता का अधिकांश अपनी परीश्रम और पसीना को एक करके भी पेट भर खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र प्राप्त नहीं कर सकते । इस प्रकार समाज में विषमता, के साथ शोषक ओर शोषित वर्ग होने के कारण वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है। कबीर इस समस्या का निवारण करते हैं। उनकी इच्छा थी कि मानव संस्कृति के पथ पर अग्रसर हो उसके बौद्धिक गुणों का विकास हो जिससे उसकी उन्नति हो।

वस्तुतः मानव जीवन का लक्ष्य आर्थिक समस्या को सुलझाना नही है, उसका परमलक्ष्य धर्म और मोक्ष ही रहेगा, किन्तु लक्ष्य प्राप्ति में यह जो बाधक है, बिना इस समस्या को सुलझाए

प्रयास विफल होगा। रोटी और काम की कमी से मानव की अतृप्ति उसकी कामुकता बन जाती है। और इसकी अधिकता के कारण उसकी तृप्ति विलसिता बन जाती है दोनों ही स्थितियों में अतृप्त मानव आज पशु के समान बन गया है। मानव को सही रूप में मानव बनने के लिए सन्तुलित जीवन व्यतीत करना चाहिए। पहले मानव, मानव जीवन व्यतीत करना सीख जाये फिर कहीं आगे बढ़ाने की बात सोची जाये। कबीर दास ने इस आर्थिक सन्तुलन के लिए सुझाव दिया प्रत्येक व्यक्ति के पास इतना धन होना चाहिए, जिससे वह अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण कर सके तथा उसके अतिथि भी भूखे न जा सकेः

साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।। (सा.ग्र.)

यह कबीर साहब की समाजवादी विचार है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार धन प्राप्त हो। प्रत्येक से उसकी सार्मथ्य के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार मार्क्स से नही निकला है, बल्कि यह कबीरदास की अपार देन है। इस प्रकार धन के द्वारा विलासिता पूर्ण जीवन बिताने वाले धनी को उसके धन को क्षणभंगुर कहकर उसे समाज में वितरण करने के लिए कबीर ने कहा है कि घर में जो अधिक धन है, उसे समाज में वितरण कर देना ही सज्जनता है। आवश्यकता से अधिक धन रखना अनुचित है।

यथार्थ रूप में कबीरदास एक महान् समाजवादी और

समतावादी महापुरूष थे। उन्होंने सदैव समत्व का ही प्रचार और प्रसार किया था। उन्हें समत्व की भावना इतनी प्रिय थी कि वे समदृष्टि रखने वाले को भगवान का स्वरूप समझते थे। वे वास्तविक दृष्टि से समाज में ऊँच-नीच की भावना को निर्मूल कर देना चाहते थे। वे कहते है कि जिसने ऊँच-नीच की भावना का परित्याग कर समत्व को ग्रहण किया उसका मोक्ष हो गया। इस तरह से वे समाज की आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य धनी 'धर्मदास' से संगृहीत धन का वितरण गरीबों में करवा दिया था। धर्मदास और उनके वंशों ने सद्गुरू के वचन का उल्लंघन न करते हुए अपना जीवन त्याग और तपस्या पूर्ण बिताया। इसी कारण कबीर पन्थ का देश और विदेशों में व्यापक प्रचार और प्रसार हो सका।

महापुरूष अपनी वाणियों से भी अधिक शिक्षा स्वयं कर्मो के द्वारा देते हैं। जिन बातों को वे समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं उसे वे स्वयं करते हैं, तभी अपार जनता उनके कर्मो का अनुसारण कर शिक्षा ग्रहण करती है। सद्गुरू कबीर की पवित्र शिक्षा का प्रभाव महात्मा गाँधी जी पर पड़ा था, जिनके माध्यम से भारत स्वतन्त्र हुआ। कबीर के समान मुक्त हृदय वाला महान पुरूष ढुँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। उन्होंने समाज में 'जिओ और जीने दो' की आवाज उठाई थी। कबीर ने समाज में प्रत्येक के लिए समानाधिकार की माँग की थी। वे समाज में महिलाओं को हर प्रकार के सम्मान देना चाहते थे। नारी भी समाज का एक अंग है। समाज के उत्थान

में नारी का प्रमुख भाग होता है, इसलिए उसकी दासता बन्द होनी चाहिए। जो कबीर की इन पंक्तियो से स्पष्ट है।

नारी निन्दा मत करो, नारी नर की खान।
नारी से नर होत है, ध्रुव प्रहलाद समान।।

कबीर ने नारी के प्रति कटु शब्दों के प्रयोग अवश्य किया है। किन्तु उसका तात्पर्य नारी के स्वाभाविक स्वरूप और अस्तित्व से नहीं बल्कि कामवासना से है। वे समाज में गुप्त रूप से वैश्या वृत्ति को बन्द करना चाहते थे। काम-वासना के लिए उन्होंने नर-नारी दोनों को दोषी ठहराया। निवृत्ति मार्ग के अनुगामी बनने पर दोनों मोक्ष-प्राप्ति के अधिकारी हैं। नर और नारी दोनों समान हैं, क्योंकि इन दोनों में एक ही परमात्मा का निवास है- ये दोनों एक ही ब्रह्म विवर्त्त रूप हैं।

इस प्रकार कबीरदास ने राज्य, समाज, धर्म की विषमताओं को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया था। अभी तक सभी जगह जिस दासता की पुष्टि की गयी थी- जैसे पुरुषों की नारियों पर लादी गई दासता, स्पृश्यों की अस्पृश्यों पर दासता, धनी लोगों की गरीबों पर दासता, ज्ञानियों के द्वारा अज्ञान जनता पर लादी गयी दासता, जिससे समाज पूरी तरह गुलाम हो गया था- इन सभी दासताओं से कबीरदास ने मुक्त कराया। गुलामी की जंजीर तोड़कर हमें स्वतन्त्र कराया। उन्होंने सर्वत्र ही समत्व, भ्रातृत्व, प्रेम, अहिंसा और सत्य का प्रचार और प्रसार कर मानवता के सच्चे मार्ग पर चलने के लिए निर्देश दिया। इन सद्गुणों के बिना आधुनिक समाजवाद कुछ

समय के लिए भले ही मनुष्यों के मन से भय, एवं अनिश्चितता की भावना दूर कर दे, किन्तु चिर स्थाई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता ।

आधुनिक समाजवाद पूर्णतः भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान से सर्वथा रहित है। मनुष्य केवल हाड़-मांस का पुतला ही नहीं हैं- बल्कि उसमें आत्मा, बुद्धि और मन भी निहित है। इसलिए आधुनिक समाजवाद के साथ अध्यात्म का होना आवश्यक है। कबीर साहब का ही समाजवाद, आध्यात्मिक समाजवाद है- जिसमें स्थायी फल की प्राप्ति हो सकती है। आधुनिक समाजवाद में आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं है इसीलिए वह शत्रुओं से घृणा एवं निर्दयता पूर्वक व्यवहार करता है। कबीर सार्वदेशिक सदाचार की घोषणा करते है। प्रत्येक व्यक्ति, उसका वर्ग एवं राष्ट्रीयता जो भी हो, परमात्मा का अंश है।

अच्छा भोजन, सुन्दर कपड़े, और नरम गद्दे ही हमें सन्तुष्ट नहीं कर सकते। शरीर की समस्या रोटी और वस्त्र तथा अन्य भौतिक सुविधाओं के द्वारा सुलझ सकती है, किन्तु भौतिक वस्तुओं से तृप्त मनुष्य भी दुख-दर्द, रोग-शोक, जरा और मरण से ग्रस्त रहता है। इस समस्या का हल न तो रोटी और वस्त्र कर सकते हैं और न ही मोटर और महल के द्वारा इनका समाधान हो सकता है। इसलिए कबीर साहब शारीरिक समस्याओं के साथ आध्यात्मिक समस्याओं पर विशेष जोर देते हैं। समत्व की भावना के लिए सर्वप्रथम सन्तोष एवं उदारता आवश्यक है। सन्तोष के सामने सभी

प्रकार के धन धूल के समान हैं।

वस्तुतः कबीर साहब हमारे समक्ष आध्यात्मिक समाजवाद रखते हैं। इस आध्यात्मिक समाजवाद के द्वारा ही समाज में समष्टिवाद की स्थिति आ जाने पर सरकार, सेना और पुलिस की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। सभी लोग अपना कर्त्तव्य और अधिकार समझने लगेंगे। कबीर की जो सुधारक क्रान्तिपूर्ण वाणियाँ हैं- वे साम्यवाद का रूप ग्रहण कर लेती हैं। साम्यवाद समाजवाद का अन्तिम सोपान माना जाता है। उनकी वाणियाँ साम्यवाद से ओत-प्रोत हैं। वे जीवन की दैनिक चर्या में अपना, पराया, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मानापमान को सम कर देना चाहते थे। जातिगत भेद-भाव को निर्मूल कर देना उनके जीवन का प्रथम लक्ष्य था। कथनी और करनी दोनों को वे उचित और समान महत्त्व देने के पक्षपाती थे।

कबीरदास विशेष रूप से शोषण और वर्ग द्वेष का अन्त करना चाहते थें, किन्तु इसके लिए नर-संहार करना उचित नहीं समझते थें। वे भी समृद्धि चाहते थे, किन्तु भौतिक समृद्धि से अधिक महत्व आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तित्व के विकास और उन्नयन को मानते थे। इस लिए समाज वादी विचारक होकर भी उनका सम्बन्ध आधुनिक समाजवाद से श्रेष्ठ और महान है। वे प्रयत्न शील थे कि मानव जीवन से विषमता हटे, समाज में सुख-शान्ति की स्थायी स्थापना हो। मानवजीवन का सब कुछ शान्त हो, सम्पूर्ण हो यही उनकी हार्दिक भावना थी।

कबीर आधुनिक समाजवादी नेता नहीं थे। वे एक महापुरूष थें। इसीलिए उन्होंने अपने समाजवाद का सम्बन्ध अध्यात्मवाद से जोड़ा और मानव समाज से उसे अपनाने के लिए आग्रह किया। कबीरदास ने एक नये समाज की कल्पना की जो बाह्य से अधिक आभ्यन्तर को देखेगा, जो मानवीय भाव-भूमि पर स्थापित होगा। वहाँ न हिन्दू होगा, न मुसलमान होगा, बाह्मण-शूद्र, काजी-मुल्ला, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, सबका बोध होगा। विवेक और सदाचरण की सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण मानवता समान होगी। एक ही धर्मभाव, एक ही उपास्य और एक ही व्यवहारिकता होगी। सद्गुरू कबीर साहब के इस धर्म-भाव को यथार्थ में जनवादी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगा।

कबीरदास का यह सार्वभौमिक स्वरूप सबको शान्ति दे सकता है। मनुष्य को सम्पूर्ण दासता से मुक्त कर उसको अपने पुरूषार्थ से मुक्ति का मार्ग दिखलाने वाले वे सर्वप्रथम महापुरूष थे। उन्होंने व्यक्तियों को स्वावलम्बी बनाया। इस प्रकार उनका यह मानव हितैषी आध्यात्मिक समाजवाद, सभी प्रकार के समाजवादों से अधिक व्यापक और महान है।

प्राचीनकाल से आज तक त्यागी, तपस्वी, महापुरूष होते आये है, किन्तु सम्पूर्ण मानव समुदाय को सच्चे अर्थो में समाज बनाने का सबको पुरूषार्थ सिद्धि के उपयुक्त अवसर देने का, सबको समत्व की भूमि पर प्रतिष्ठित कर निःस्वार्थ भाव से प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करने का सर्वप्रथम साहसिक कार्य सद्गुरू कबीर ने ही

किया था। इनके पश्चात ही दूसरे प्रभावशाली विचारको ने इस ओर कमद बढ़ाया। मनुष्य की आन्तरिक भावना के बिना भौतिक समाजवाद केवल आत्माविहीन निर्जीव शरीर के समान ही शून्य और तुच्छ प्रतीत होता है। समाज में आधुनिक समाजवाद की स्थापना स्थायी रूप से नहीं हो सकती। सद्‌गुरू कबीर का आध्यात्मिक समाजवाद ही समाज के लिए उपयुक्त एवं सार्थक है। अपने युग के महारथी सद्‌गुरू कबीर ने अपने जीवन में इस आध्यात्मिक समाजवाद को चरितार्थ किया था। कबीरदास का समाजवाद जीवन के दोनों पहलुओं को लेकर चलता है इसलिए यह समाजवाद सबसे अधिक व्यापक और महान् है।

इस समाजवाद के संस्थापक सद्‌गुरू कबीर साहब को फुलों की माला नहीं चाहिए। चन्दन, अक्षत, धूप-गन्ध भी नहीं चाहिए, उन्हें विश्व शान्ति के लिए अन्तः करण की मानवता, पीड़ित वसुधा के लिए सम्वेदना के आँसू, भूखे, प्यासे अपाहिजों के लिए जीवन-दान चाहिए। उन्हें मूर्ति चित्र-पूजा नही, प्राणि-पूजा चाहिए। वे जड़ता के प्रतीक को नहीं, अपितु जनता के प्रतीक को चाहते थे। इस महानता ने कभी भी जातिया राष्ट्र अथवा संकीर्ण धर्म की दृष्टि से विचार नहीं किया, बल्कि सम्पूर्ण मानवता और विश्व के लिए ही सोचा और उसे कार्यान्वित किया। कबीर दास विचारों की राह से मानवता को प्रगति की ओर ले जाने वाले अद्वितीय महापुरुष थे, किन्तु स्वार्थी राजसत्ता और समाजसत्ता ने उन्हें कभी प्यार की निगाह से नहीं देखा। सदियाँ बीत गयीं, किन्तु आज भी हम सद्‌गुरू

कबीर साहब को पहचान सकने में असमर्थ हैं। समय तो बीत गया, फिर भी हमारे पास पर्याप्त समय है। यदि हम उनकी पवित्र एवं विमल वाणियों का अनुसरण कर उनके सिद्धान्तानुसार आध्यात्मिक समाजवाद की प्रतिष्ठा करें तो निश्चय ही सम्पूर्ण भारत तथा विश्व का कल्याण हो सकता हैं।

समीक्षाः- गृन्धमुनि नाम साहब के द्वारा दिये गये कबीर के सन्दर्भ में मार्क्सवादी विचार धारा तत्कालीन समय की दृष्टि से पूरी तरह अनुकरणीय है। यह सत्य है कि कबीर आज हिन्दी साहित्य के इतिहास के पन्नों पर जिस महानपुरूष के रूप में विद्यमान है, वह केवल कल्पना की दृष्टि से ही नही है, बल्कि उसमें सत्यता कूट-कूटकर भरी हुई हैं। कबीर अपने युग में जिस रूप में अवतरित हुए थे वह समय बहुत ही विषम परिस्थितियों से गुजर रहा था। और ऐसे ही स्थिति में उन्होंने समाज की विकृतियों को जड़मूल से नष्ट करने के लिए साहस और धैर्य्र के साथ कदम उठाया।

कबीर की कथनी और करनी में अन्तर न होने के कारण ही उन्हें कुट सत्य को प्रस्तुत करने में किसी तरह की कठिनाई नही होती थी। कबीर के भावनात्मक दृष्टि से मेरा विचार है, कि समाज में व्याप्त, ऊँच-नीच, और जाति-पात, दुआ-छूत, पाखण्ड आदि को हटाकर एक समान विचारधारा वाले समान अधिकारी, सर्वसुलभ समाज जिसमें न कोई छोटा हो न कोई बड़ा न कोई धनी हो न कोई गरीब अर्थात सभी लोग समन्वय की विचारधारा से परिपूर्ण हो।

ऐसी परिस्थिति में सभी को अपने अधिकार की बात को कहने और सुनने की स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर ही समाज का सार्वांगिण विकास पूर्णतः हो सकता है। और महापुरूष कबीर के सपनों का भारत साकार होकर यथार्थ रूप में प्रकट होगा। क्या कबीर के यह समाजवादी विचार मानवता के लिए, संस्कार के लिए, विकास के लिए, समृद्धि के लिए आवश्यक है? यदि इसका उत्तर हाँ के रूप में है, तो क्यों यह कार्य आज भी पूरी तरह से नही हो पा रहा है? इसके लिए हम और आप दोनों दोषी है, क्योंकि एक के चाहने और एक के न चाहने से कोई कार्य पूर्ण नही हो सकता है?

कबीरदास अपने विचारों को प्रकट करते समय किसी को नही छोड़ा है, चाहे कोई राजा हो या रंक, उनकी दृष्टि में सभी लोग समान थे, वे किसी को जन्म से श्रेष्ठ और निम्न नही मानते थे, बल्कि कर्म की महत्ता को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में जब एक ही प्रकार के रक्त सभी के शरीर में विद्यमान है, और वही एक ईश्वर सबको काया दी है, तो फिर इसमें कौन ऊँचा है, और कौन नीचा, यह भेद अज्ञान के कारण ही है। जब अज्ञान का घड़ा फूट जायेगा तो प्रत्येक को यह ज्ञान हो जायेगा, कि सभी जीव एक तत्व से निर्मित है। कबीर दास को ऐसे ही लोगों के प्रति अगाध प्रेम था।

उनकी दृष्टि में ऐसे समाज का निमार्ण होने के लिए 'अध्यात्म' का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक मनुष्य के अन्दर,

'भावना' निहित न होगी तब तक वह अपने कार्य को अन्तिम रूप नही दे सकता है। कबीर का मानना है कि 'प्रेम' ऐसी संजीवनी है, जिसके माध्यम से कठोर से कठोर, निर्दयी को भी अपने रास्ते पर लाया जा सकता है। इस तरह से वे समाज में हिंसा नही चाहते थे बल्कि अहिंसा के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के पक्ष में थे। हिन्सा और अराजकता का मूल जड़ पूंजीवाद, और भौतिकवाद है। समाज में जब किसी को अपने अधिकार और हिस्सा को इमानदारी के साथ नही दिया जाता तो वही अराजकता और हिंसा का मूल कारण बन जाता है। इसके लिए कुछ कहना जरूरी नही है, क्योंकि इतिहास ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है?

अतः कबीर दास अपने लिए फूलो की माला, और सिंहासन नही चाहते थे, बल्कि उन्हें तो दीन दु:खियों की सेवा में इससे बढ़कर कही अधिक सुख मिलता था। उनको सुन्दर कपड़ा अच्छा भोजन और कोमल शैय्या नही चाहिए, बल्कि उन्हे कुंठित और गरीबों के लिए दो समय की रोटी, और उनके अधिकार चाहिए। कबीर को दिखावटी पाखण्ड, और ढोंग की बजाय हृदय में असीम श्रद्धा चाहिए। ऐसे ही थे, युग प्रवर्तक, महानपुरूष, कबीर जो दीन दुखियों और गरीबों के हृदय में बसकर आज भी उनके अपने मसीहा बने हुए हैं। यही कारण है कि कुंठित और दलितों के द्वारा वेदना की मार्मिक आँसू के फूल उनकी श्रद्धा और भक्ति में आज भी चढ़ाये जा रहे हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सं० बलदेव बन्सी, पूरा कबीर, (गृन्धमुनी नाम साहब, कबीर सहाब और समाज वाद) पृ०- 234

पंचम् अध्याय

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कबीर विषयक आलोचनाओं की प्रासंगिकता

किसी भी रचनाकार की प्रासंगिकता इस बात में निहित है कि वह अपने समय सन्दर्भो की, पड़ताल रचनात्मक ईमानदारी के साथ करता हुआ न केवल अपनी समकालीनता को प्रभावित करे। बल्कि आने वाले युग में भी वह बहुत दूर तक अपना रचनात्मक प्रभाव कायम कर ले, कबीर अपनी रचनाओं में जिस सामाजिक स्वप्न के लिए मोहग्रस्त थे, उसका साकार रूप किसी एक युग में एकाएक सामाजिक बदलाव के रूप में असम्भव था। वह कई पीढ़ियों के अन्तर से ही अपने अभीष्ट रूप में दिखायी पड़ता। अतः यह बहुत आवश्यक था कि कबीर के बाद उस धारा का विकास अन्य सन्तों में दिखायी पड़ता।

कबीर ने अपनी रचनात्मक कुशलता के कारण अपने समकालीन रचनाकारों को तो प्रभावित किया ही, बाद में आने वाले कबीर पंथी सन्तों के अतिरिक्त ऐसे कई अन्य पंथ एवं सन्त दिखायी देते है, जिन पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट रूप से है। इन सन्तों एवं पंथों की रचनात्मक पहचान निश्चय ही कबीर की प्रासंगिकता एवं उपलब्धियों को रेखांकित करती है। कबीर अपने समय में जहाँ विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा हेय और आलोचना क आधार थें। वही कुछ प्रतिष्ठित सन्तों के ऊपर उनका प्रभाव स्पष्टतः उनकी प्रासंगिकता प्रमाणित करता है।

इस परिप्रेक्ष्य में 'रामानन्द' का महत्व इस अर्थ में है कि उत्तरी भारत की सन्त परम्परा के इतिहास में वे एक ऐसे व्यक्ति थे, जो रामोपासना के आधार पर जाति एवं वर्ण की दीवारें गिराकर तत्कालीन जड़ता के विरूद्ध एक नयी दिशा एवं दृष्टि कायम कर सकें। रचनात्मक धरातल पर रामानन्द कहीं-कहीं कबीर से सादृश्य अवश्य रखते है। किन्तु इस अर्थ में वह कबीर से प्रभावित रहें हो, ऐसा नहीं है। रामानन्द पर कबीर का प्रभाव इस रूप में देखा जा सकता है कि रामानन्द की शिष्य परम्परा में आने वाले सन्त कवियों में, सेन, नाई, रैदास, पीपा, धन्ना आदि कबीर से स्पष्टतः प्रभावित दिखाई देते है।

वास्तव में ये कबीर के समकालीन एवं एक ही परम्परा में दीक्षित होने वाले सन्त थे। किन्तु इनकी रचनाओं में कबीर के प्रति जैसा आधार मिलता है, उससे कबीर का इन पर प्रभाव प्रमाणित हो जाता है। किसी भी सन्त की परम्परा आगे चलकर किसी अन्य संत या पंथ के विचारों में समाहित हो जाय, तो स्पष्टतः उस सन्त पर सन्त या पंथ-विशेष का प्रभाव रेखांकित किया जा सकता है। इस दृष्टि से रामानन्द पर कबीर का प्रभाव निश्चय ही विद्धानों को स्वीकार न होगा।

कबीर अपने जीवन काल में किसी पथ-सम्प्रदाय के मोह से नहीं जुड़े। वे सदैव सम्प्रदायों की निन्दा करते रहें, किन्तु उनके बाद उनके सिद्धान्तों से प्रीाावित अनेक पंथ बने, जिनमें कुछ तो उनकी वाणियों सिद्धान्तों को सुविचारित रूप देने के लिए

मोहग्रस्त थे। और कुछ के पीछे उनके आचार्यों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की बात थी।

आचार्य चतुर्वेदी जी कबीर पंथ को विशेष इच्छाओं के वशीभूत स्थापित किया माध्यम मानते हैं। इतना तो तय है कि कबीर ने अपने जीवनकाल में किसी पंथ-विशेष की प्रासंगिकता को सदैव स्वार्थो के वहत जोड़कर देखा। पर उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों को यह स्वीकार नहीं हुआ। कदाचित कबीर अपनी विनम्रता-वश अपने किसी पंथ का संचालन ठीक नहीं समझते थे। पर ऐसा होता तो कबीर अपनी रचनाओं में पंथ बनने न बनने पर कही कोई विनम्रता पूर्वक कथन अवश्य कर जाते। जो भी हो, कबीर की मृत्यु के बाद उनके पंथ-विशेष के लिए बने मठों में से कौन पहले आरम्भ हुआ, यह विचारणीय है। किन्तु यह साक्ष्य कबीर-पंथियों द्वारा यह कहकर दिया जाता हैं कि उनके अन्तर्धान होते ही 'कबीर-पंथ' का आरम्भ हो गया।

कबीर वस्तुतः सम्प्रदायों के संयम-नियम के विपरीत कथन करते हुए दिखायी देते है। अतः यह स्वाभाविक ढंग से हमारा मत बनता है कि उन्हे पंथ-संप्रदाय के प्रति वितृष्णा थी। पर ध्यान से देखे तो कबीर के सिद्धान्त, उनकी साधना भी एक प्रकार के संयम-नियम की मांग करते हैं। कोई भी साधक 'मन मस्त हो जाने के पूर्व साधना की एक विशेष प्रक्रिया से तो स्वयं को आत्मलीन करेगा ही। अतः आन्तरिक सुक्ष्मता के आधार पर गृहस्थ कबीर सन्तो, गुरूओं तक जाने का परामर्श देते हैं। आज 'कबीर पंथ'

निश्चय ही व्यक्ति के लिए आत्मलीन होने का एक संयम शील उद्योग जीवित किये हुए है।

कबीर ने साधना के लिए-पंथ-विशेष का विरोध वहाँ किया है, जहाँ सम्प्रदायों की कुलषित भावनायें व्यक्ति को ब्रह्म की रक्षा के लिए हिंसा के धरातल तक प्रेरित करती थीं। किन्तु कबीर-पंथ उस ब्रह्म के रूपाकार से परे सदैव पंथ होते हुए, उन तथा कथित पंथों से अलग है। आज भी कबीर की वाणियां अपने विद्रोही स्वरूप में वैसे ही प्राप्त है, जैसी कि कबीर के समय में। अतः यह पंथ-मठ कबीर के लिए बौद्धों, जैनों की तरह घातक नहीं बना। ऐसी स्थिति में कबीर-पंथ या मठ निश्चय ही उन कबीर पंथी संतों की सामाजिक हिस्सेदारी प्रमाणित करते है। जो कबीर की तरह ही सत्संग का एक माध्यम कबीर पंथ के रूप में प्रचलित कर गये थें।

जहाँ तक कबीर-पंथ की उपलब्धियों का प्रश्न है, आज के औद्योगिक युग में, जहाँ मनुष्य केवल धर्म भीरू होकर राम के नामकत्व का सहारा माया की उपासना के लिए लेता है। बहुत स्वाभाविक था, कि कबीर या किसी भी बड़े कवि का स्मरण-सन्दर्भ धुमिल हो जाता। कबीर पंथ की यह बहुत बड़ी भूमिका मानी जायेगी कि वह कबीर को अभीजात्य वर्ग से अलग, व्यावहारिक धरातल पर जीवित किये हुए हैं।

कोई भी पंथ-विशेष अपने पीछे दो तरह के लोगों की भूमिका स्वीकार करता है। एक तो वे लोग, जो बौद्धिकता की हद तक समझ रखकर उस समझ का प्रयोग व्यवहार जगत से अलग

मानसिक विलास के लिए करते है, दूसरे वे लोग जो अपनी निश्छलता में सामाजिक भागीदारी का साहस रखते हुए भी अवैचारिकता के शिकार होते हैं। कबीर के सिद्धान्तों के साथ निष्पक्षता से देखे तो उन मठो और बोद्धिक लोगों के बीच कबीर का यही हश्र हुआ।

कबीर की प्रासंगिकता पर इन विपरीत सन्दर्भो में विचार करें तो उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी कि उनका दृष्टिकोण साहित्य, समाज को इतनी दूर तक प्रभावित करता है। हिन्दी कविता की फैशन परस्त मानसिकता के कारण कबीर का कोई स्थूल प्रभाव उस पर टांकना, निश्चय ही बहुत अवैज्ञानिक होगा। किन्तु कविता के स्वरूप, विकास में स्वच्छन्दता का आरम्भ निराला से भी पहले कबीर में देखा जा सकता है।

कबीर ने रचनात्मक धरातल पर आज भी देश की विभिन्न भाषाओं में अनेक रचनाकारों को अपने सिद्धान्त से प्रभावित कर रखा है। और एक पूरी की पूरी पीढ़ी इस प्रभाव के अन्तर्गत दिखाई देती है। चाहे वे बंगला के रवीन्द्रनाथ, विष्णु दे है अथवा गुजराती के नर्मद पूर्व और नर्मदोत्तर अनेक कवि। कबीर का प्रभाव उन भाषाओं के रचनाकारों पर आज भी बहुत तेजी से दिखाई देता है। जिनका वस्तुगत सन्दर्भ फिर अध्यात्म की ओर मुड़ रहा है। कबीर-पंथ की दिनचर्या विषयक एक ग्रन्थ में दैनिक नियमावली का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में तर्क-वितर्क का महत्व प्रतिपादित करते हुए भाष्यकार का कथन है कि संसार में सबका मत एक नही हो सकता। विषय विभिन्नता अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में

परस्पर समता और प्रेम न रखा जाय तो सिद्धान्त और धर्म का महत्व ही क्या है ?

इस प्रकार कबीर–मठ के समकालीन स्वरूप की मानसिकता को परखा जा सकता है। कोई भी पंथ–सम्प्रदाय अपने उस रूप में असमय अस्तित्व खो बैठता है। जहाँ वह स्वयं के विपरीत कुछ न कहने सुनने की मानसिकता देकर अपने अनुयायी को वैचारिक रूप से कुन्द कर देता है। कबीर मठों की यह बहुत बड़ी प्रासंगिकता है कि वह व्यक्ति को वैचारिक चुनाव का अवसर देकर उसे बौद्धिक उन्नयन के धरातल पर सामाजिक भागीदारी सौपता है।

कबीर का यह पंथ, ये सिद्धान्त समय के साथ निश्चित रूप से फिर बहुत व्यवहारिक, बहुत प्रासंगिक होंगे। आज भी देश के भीतर जीने वालो की औसत मानसिकता शुद्रत्व के प्रति अंशतः तो समर्पित दिखायी देता ही है। यही कारण है कि कबीर –पथी सन्तों के बीच अपने पूर्णरूप में शूद्र रहने वाले लोग ही अधिक है। शायद यह इस बात का प्रतिफल हो कि समाज का उपेक्षित सर्वहारा कबीर के सिद्धान्तों को अपने ऊपर सुरक्षा कवच की तरह देखता है। जो भी हो, कबीर आज भी उतने ही अंशों में प्रासंगिक है। जितने कि वे मध्यकाल में रहे होंगे। उनकी कविता का यह व्यवहारिक पक्ष बहुत ही प्रासंगिक एवं उपलब्धि पूर्ण है कि वह आराध्य की सामन्ती प्रतिष्ठा के विपरीत उसके साथ स्वयं की पारिवारिक हिस्सेदारी अनुभव करते हैं। उनकी साधना का व्यवहारिक पक्ष किसी भी युग के लिए मनुष्यता की सृष्टि करता हुआ दिखाई देगा।

मध्यकालीन कवियों में आज निर्विवाद रूप से 'कबीर' को विशेष महत्व दिया जा रहा है। इसका मुख्य कारण धार्मिक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति उनका विद्राही स्वर हैं। मध्यकाल में कबीर अकेले कवि है, जिन्होनें जीर्ण परम्पराओं का खुलकर विराध किया है। पहले भी लोक चेतना में कबीर की प्रतिष्ठा कम नही थी। नाभादास ने 'भक्तकाल' में उनका आदर पूर्वक स्मरण किया है। लोकोक्तियों में भी 'तुलसी' और 'सूर' के बाद 'कबीर' का ही महत्व स्वीकार किया गया है। इस महत्व का कारण उनकी दृढ़ आस्था, निर्भीक व्यक्तित्व और अविचल भक्ति रही है।

आज 'कबीर' को जो महत्व दिया जा रहा है, उसका कारण कुछ दूसरा हैं। आज का कवि और साहित्यकार कबीर की मानसिकता को अपनी काव्य-संवेदना के काफी निकट पाता है। यह पूछे जाने पर कि हिन्दी के आदि कवि 'सरहपा' से लेकर आज के नये से नये कवियों में आपको कौन अच्छे लगते हैं ? रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, प्रभाकर, जैसे कवियों ने 'कबीर' का नाम आदरपूर्वक लिया है।

इसमें सन्देह नही कि कबीरदास ने अपने समय के जीवन-प्रवाह को खुले नेत्रों से देखा था। वे 'कागद की लेखी' पर विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने जो कुछ कहा है उसके पीछे उनका अनुभव विद्यमान हैं। वे निर्भीक, स्पष्ट वक्ता, विवेकशील और पक्षपात रहित थे। उन्होनें किसी की झूठी खुशामद नहीं की। योगी हो या पंडित, मुल्ला हो या मौलवी, नवी हो या औलिया, पीर हो या

शैव हो, हिन्दू हो या मुसलामान, उन्होंने सभी की दुर्बलताओं पर समान भाव से प्रहार किया। वे सच्चे विद्रोही थे। उनका विद्रोह, अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव, आडम्बर तथा धार्मिक एवं सांप्रदायिक संकीर्णता के विरूद्ध था। जो कि समाज और मानव के लिए घातक था। जिसे जड़मूल से समाप्त करना उनका लक्ष्य था।

कबीर दास सहज जीवन के समर्थक थे और मनुष्यमात्र की एकता में विश्वास करते थें। दीन-हीन जनता एवं उपेक्षित मानव समुदाय के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी। वैभव, शक्ति और सत्ता के प्रति उनके मन में आकर्षण नहीं था। उनके साथ वही चल सकता था। जिसने माया मोह के सारे बन्धनों को काटकर फेंक दिया हो। जिसने वैभव-विलास की भावना को जलाकर राख कर दिया हो। उनकी कविता में उनकी आत्मा की यह तड़प स्पष्ट लक्षित होती है। कबीर की कविताओं में लक्षित होने वाला यह तनाव ही वह बिन्दु है, जहाँ आज का कवि अपने को कबीर के साथ खड़ा पाता है।

कबीर की निर्भीकता, दृढ़ता, अभेद दृष्टि और चारित्रिक निर्मलता आदि अन्य विशेषतायें भी आज के कवि और साहित्यकार के लिए विशेष आकर्षण और महत्व रखती है। वह जब देखता है कि अकेला एक व्यक्ति निर्भय होकर पंद्रहवीं शती की सम्पूर्ण धर्म एवं समाज व्यवस्था को चुनौती दे रहा है, तो उसके मन में उसके प्रति आदर का भाव उत्पन्न होता है। यह होत हुए भी कबीर की मानसिकता आधुनिक काव्य-संवेदना के समकक्ष नहीं मानी जा सकती। उन्होंने समाज-व्यवस्था को उस बिन्दु पर चुनौती दी थी जहाँ

उन्होंने उसे ईश्वरच्छा के विरीत अनुभव किया था। ईश्वर ने मानव मात्र को उत्पन्न किया है। उसके लिएसब समान है। ब्राह्मण और शुद्र का भेद ईश्वर कृत नहीं है। इसी प्रकार छूत-अछूत के भेद भी ईश्वरकृत नही है। जब सभी ही ईश्वर की ज्योति से उत्पन्न है तो कौन ब्राह्मण है। कौन शूद्र ? निश्चय ही कबीर की ये मान्यतायें तम्कालीन व्यवस्था के प्रति विद्धीहात्मक प्रतीत होती है, किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि यह विद्रोह समग्र व्यवस्था के प्रति नही है। कबीर ने कहीं राजसत्ता को चुनौती नहीं दी है। मात्र धार्मिक सामाजिक विकृतियों को ही उन्होनें लक्ष्य बनाया है।

आज का कवि किसी रहस्यमय प्रियतम के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके अद्वैतवाद की साधना नहीं कर सकता। वह यह नहीं कह सकता कि मैनें नैनों की कोठरी में पुतरी की पलंग बिछाकर और पलकों का चिक डालकर अपने प्रियतम को रिक्षा लिया है। आज का यथार्थजीवी कवि किसी रहस्य लोक की कल्पना नही कर सकता। आज सस्वप्न, कल्पना रहस्यलोक आदि सभी की मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो चुकी है। इन सबके मूल में मनुष्य और उसके पर्यावरण का द्वन्द्व ही कारण रूप में विद्यमान है।

कबीर का यह प्रियतम उनका आदर्श पुरुष ही है। जिसे वे इस लोक में न पाकर रहस्यमय द्विव्यलोक में प्राप्त करना चाहते हैं। कबीर की इस द्वद्वतीन मनः स्थिति और परम प्रियतम के साथ अद्वैत भाव की स्थापना के साथ आधुनिक वैज्ञानिक जीवन दृष्टि और वस्तु परक भाव बोध का सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता।

आज के परम्परा विद्राही और मात्र वर्तमान के प्रति जागरूक कवियों को यह जाना चाहिए कि कबीर स्वयं एक परम्परा से जुड़े थे। बौद्धों-सिद्धों एवं नाथयोगियों की परम्परा से कबीर को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। कबीर के समय तक सिद्धों एवं नाथ योगियों की परम्परा से कबीर को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। कबीर के समय तक सिद्धों और योगियों की परम्परा अपनी गतिशीलता खो चुकी थी। कबीर दास की विशेषता यह थी कि उन्होंने इस परम्परा से उतना ही ग्रहण किया जितना प्राणवान एवं सार्थक था।

आज का कवि कभी अपने को कुंठित अनुभव करता है कभी आक्रोश व्यक्त करता है। कभी उसका मोह भंग होता है और कभी वह विद्राह को ही अपनी पीढ़ी का धर्म मान लेता हैं। कभी उसके सामने अभिव्यक्ति का संकट आता है, तो कभी प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता के द्वन्द का। कभी वह बिम्बों की सृष्टि में कवि-कर्म की सार्थकता अनुभव करता है तो कभी बिम्बों के व्यामोह को तोड़कर सपाट बयानी पर उतर आता है। यह सब शायद इसलिए है कि वह एक गतिशील समाज का प्राणी है। वह बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों और स्थितयों के अनुसार अपनी मानसिकता और मूल्यगत प्रतिबद्धता में परिवर्तन कर लेता है।

कबीर के सम्बन्ध में ऐसा नही कहा जा सकता। वे न अपने को कुंठित अनुभव करते हैं, न निराश होते हैं। वे कभी-कभी अपने को अजनबी जरूर अनुभव करते हैं क्योंकि एक भी व्यक्ति उन्हें ऐसा दिखाई नही पड़ता जिससे वे अपने मन की बात कह सकें।

तात्पर्य यह है कि कबीर की विद्रोहात्म प्रकृति, यथार्थ परक दृष्टि, प्रखर व्यक्तित्व, निर्भीक एवं ओजस्वी स्वर जीवन दर्शन तथा सामाजिक धार्मिक विकृतियों को लेकर मन के भीतर बना रहने वाला तनाव आदि ऐसे बिन्दु हैं, जो आज की काव्य-संवेदना के निकट पड़ते है। किन्तु उनकी सारी सांसारिक द्वन्द्वों से ऊपर उठकर समत्व बोध की साधना आज के वस्तुपरक दृष्टि-सम्पन्न कवि की मानसिकता से मेल नहीं खाती।

बीसवीं-इक्कीसवीं सदी का युगधर्म राजनीति है। भारत की मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था में स्थापित सभी राजनीतिक दलों की विचारधारा, चरित्र व आचरण के प्रति आम लोगों मे अनास्था, अविश्वास का माहौल पैदा हो गया है। राजनीति से आम आदमी विमुख होता जा रहा है। परन्तु आज के आम आदमी की समस्याओं का समाधान राजनीति ही प्रस्तावित कर सकती है। इसलिए चुनौती मौजूदा आम आदमी में विश्वास व आस्था बहाल करना है। आडंबरवादी, कर्मकांडी और असमानता के जनक पुरोहितों की मध्यस्थ की भूमिका के समाप्त होते ही धर्म समाज के प्रत्येक तबके की पहुँच की सीमा में आ जाता है। भक्ति के प्रत्येक जीव को मोक्ष का अधिकारी बना देता है। इस अर्थ में कबीर की भक्तिपरक उपासना पद्धति अपने में समाये हुए हैं।

कबीर के राम इसी मुक्ति और स्वतंत्रता दोनों के प्रतीक है। गुणातीतराम व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप में आलंबन हो सकते है। इसी अर्थ में मुक्ति और स्वतंत्रता दोनों को

धारण करने की सामर्थ्य उनमें है। राम होने की वजह से समाज के हाशिए पर पड़े तबके के चेतन व अचेतन दोनों मन के सहज आलंबन हो सकते है। यानी अरूप, निर्गुण गुणातीत राम व्यक्तिगत मुक्ति और समूहगत स्वतंत्रता का समानरूप से अलंबन बनकर तत्कालीन धर्म को समानता की मूल्यव्यवस्था से भरते है। प्रत्येक जीव व्यक्तिगत रूप से उस भक्ति के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह उपासना पद्धति तत्कालीन अभिजात्य, शास्त्रीय, आडम्बरवादी उपासना पद्धति पर प्रहार कर पुरोहितों के रूप में धार्मिक बिचौलिए की भूमिका समाप्त करती है। वह सद्गुरू के रूप में एक ऐसे मार्गदर्शक की कल्पना करता है जो बिना किसी आडम्बर, कर्मकाण्ड भेदभाव के सभी जाति, धर्म सम्प्रदाय के लोगों को मोक्ष का अधिकारी बना सके।

कबीर के समक्ष एक बड़ी सामाजिक चुनौती यह है कि समाज के बहुसंख्यक तबके की मान्यताओं मूल्य-व्यवस्था, जीवन-शैली, उपासना-पद्धति की सामाजिक मान्यता व वेधता प्राप्त नही थी। तत्कालीन अभिजात्य तबके की कर्मकाण्डी बाह्याडंबरों,से लदी उपासना पद्वति में निचले तबकों के लिए न कोई जगह थी और न शायद उस तक पहुँचना उनके समर्थ्य के हिसाब से संभव था। जिसका कुछ कारण उपासना पद्धति में असिमित, धन का व्यय भी था जो निचले लोगों में अल्पता में व्याप्त थी।

इक्कीसवीं सदी में जब बाजार ने अपना सर्वग्रामी रूख अख्तियार कर लिया है, उपभोक्तावादी अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़

रहा है तो कबीर को हम क्यों और कैसे पढ़ें, प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। आज के इन प्रश्नों को समझने में क्या कबीर हमारी कोई मदद करते है? कबीर जुलाहा थे। जुलाहा जाति उन्हीं कारीगरों, शिल्पकारों में से एक थी जो तेरहवी, चौदहवी सदी तक सम्मानित स्थिति से महरूम थी। भूख उनकी केन्द्रीय चिन्ता नही थी। सामाजिक प्रतिष्ठा उनके लिए बड़ी समस्या थी। स्थानीय स्तर पर खुशहाल होने से और विकेन्द्रित व छोटे स्थानीय शासक के अधीन होने से उनमें यह आत्मबोध होने लगा था कि अपने पक्ष को खुले तौर पर रखा जा सकता है। मध्ययुग का काल 'धर्मयुग' था इसलिए धर्म से टकरा कर ही कुछ हासिल किया जा सकता था या खोया जा सकता था।

कबीर जैसे भक्त कवियों ने तो राजसत्ता की उपेक्षा की परन्तु धर्म की उपेक्षा नहीं कर सके। उन्हें जिस सामाजिक सम्मान की जरूरत थी, वह धर्म ही दे सकता था। धर्म पर पुरोहितों और उनके द्वारा फैलाए गये बाह्याडंबरों, कर्मकांडो की प्रधानता थी। इन कर्म कांडों और इससे लदी हुई उपासना पद्धति की वैधता के लिए शास्त्र का हवाला दिया जाता था। धर्म के इस रूप के प्रति आम लोगों के मन में अनास्था का भाव पैदा हो गया था। नाथ पंथियों, योगियों की साधनात्मक उपासना पद्धति से भी आम लोग तादात्म्य स्थापित नहीं कर पा रहे थे। ऐसी स्थिति में कबीर ने सीमातीत निर्गुण राम की भक्ति के माध्यम से एक ऐसी उपासना पद्धति की प्रस्तावना की जो धर्म से विमुख हो रहे आम आदमी की आस्था को पुनः बहाल कर सके।

कबीर अपनी भक्ति के माध्यम से एक समाज के सभी वर्गों की पहुँच को सम्भव किया है। इसका महत्व तब समझ में आता है जब हम कबीर से दो-तीन सौ साल पहले हुए शंकराचार्य के उस मंतव्य की ओर देखते हैं जिसमें उन्होनें शुद्रों के लिए वेदों को वर्जित बताया था। कबीर का राम दशरथ सुत नही है परन्तु वह ऐसा जरूर है जिसका साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अन्दर कर सकता है। व्यक्तिगत उपासना की यह पद्धति तत्कालीन पुरोहितवादी, कर्मकाण्डीय, उपासना पद्धति को चुनौती देती है। इस प्रकार अपने समय के धर्मयुग, धर्म में व्याप्त कुरीतियों, बाह्यांडंबरों, कर्मकाण्डों, असमानता से टकराकर कबीर उस धर्म की मानवीय संवेदना को नई उष्मा से भरते हैं।

जहाँ एक तरफ तत्कालीन प्रचलित उपासना पद्धति को खारिज करना वही दूसरी तरफ बहुसंख्यक समाज की मान्यताओं वगैरह को सामाजिक स्वीकृति व वैधता दिलाने की दोहरी समस्या कबीर के समक्ष थी। इसी प्रक्रिया में कबीर शास्त्र व परंपरा से बार-बार टकराते हैं। प्रचलित उपासना पद्धति के आडंबरों, कर्मकांडों और पौरोहित्य को तर्क, परंपरा व शास्त्र से ही चुनौती देते हैं। इस प्रक्रिया में वे लोक-मान्यताओं को शास्त्रोक्त मान्यताओं के विपरित खड़ा करते हैं। बहुसंख्यक समाज की लोक मान्यताओं को सामाजिक स्वीकृति व वैधता दिलाने के लिए परम्परा व शास्त्र के भितर से ही उसके अनुकूल तत्वों की खोज करते हैं। उपनिषद् और योग का कबिर इस प्रकृया मे सर्वाधिक इस्तेमाल करते हैं। उनकी उलटवांसियों

व हठयोग से सम्बन्धित पदावलियाँ इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। इसके माध्यम से परम्परा के पुरोहीतवादी शास्त्रोक्त मान्यताओं के समानान्तर और उसके खिलाफ परम्परा के ही लोक मान्यताओं के अनुकूल धारा को निर्मित करने की कोशिश कबीर ने की है। इसका दोहरा आशय है- एक तरफ इससे लोकोन्मुखी उपासना पद्धति की प्रस्तावना होती है, वहीं दूसरी तरफ इन लोक मान्यताओं को शास्त्रोचित ठहराते हुए सामाजिक स्वीकृत व वैद्यता दिलाने की कोशिश होती है। इस प्रकार कबीर परंपरा और शास्त्र का पुनर्पाठ तैयार करते हैं, पुनर्निमित करते हैं। कबीर की जिस उपासना पद्धति को अन्तः साधनात्मक रहस्यवाद व भावनात्मक रहस्यवाद जेसे दो अलग-अलग दिखने वाले कठघरे में बांटकर देखा जाता है, दरअसल इसका पाठ इसी सामान्य सूत्र को खेजने की कोशिश के रूप में होना चाहिए।

संभवतः अंतः साधना की प्रक्रिया पुरोहितवादी उपासना पद्धति की परिधि से बाहर खड़े तत्कालीन सामाजिक तबके और सभ्यता के निकट में वाकिफ हुए सामाजिक तबके और सभ्यता के निकट में वाकिफ हुए सामाजिक मान्यताओं, रीतिरिवाजों को उपनिषद योग की भारतीय परम्परा से जोड़कर निर्मित करने का प्रयास है। वही दूसरी ओर भावनात्मक रहस्यवाद मानव मात्र की चित्तवृत्तियों के अनुकूल होने की वजह से अभिजात्य व सामान्य दोनों जनों के लिए ग्राह्य है। कबीर क समय की एक बड़ी समस्या हिन्दू-मुस्लिम टकराव है। दो नितांत भिन्न मूल्य-व्यवस्था, नैतिक मान्यताओं और

उपासना पद्धति वाले समूहो का आमना-सामना उस समय हो रहा था।

कबीर ने सामान्य जन की मानसिक बुनावट रीति-रिवाज, लोक-मान्यताओं को उस आधार भूमि के रूप में चुना जिस पर हिन्दू-मुस्लिम एकता का निर्माण संभव था। इस एकता को आडंबर व कर्मकांडों से हीन धार्मिक मठाधीशों उनके द्वारा प्रस्तावित उपासना पद्धतियों, आडंबरों व कर्मकाण्डों को उन्होंने चुनौती दी। कबीर की भाषा यह सवाल उठाती है कि भाषा लिखने-पढ़ने, अभिजात्य लोगों, के सम्प्रेषण और संवाद का माध्यम बनने से संस्कारित होती है या लोक जीवन से जुड़ने, आम लोगों की बातचीत का माध्यम बनने से। कबीर जिस 'बुद्धिवाद' के वाहक व प्रतिष्ठाता कवि है। आज के समय में सायास उस परंपरा को उपेक्षित व समाप्त करने की कोशिश की जा रही है। कबीर का यह पुर्नपाठ आज ज्यादा प्रासंगिक है।

यह तथ्य निसंदेह है कि 'कबीर' जैसे महापुरूष ने तत्कालीन समय में मजहब और धर्म के विभेदी कारण को समूल जड़त समाप्त करने क लिए समाज को अपने कटु सत्य और ओजस्व से परिपूर्ण विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होनें 'ईश्वर' और 'अल्लाह' में विभेद करने वालों को सामाजिक विद्रोही की उपमा दी ऐसे लोगों से दूर रहने की सलाह दी है, और दोनों मजहब को एक करने तथा जातिगत भेद भाव को मिटाने का पूर्णतः प्रयास किया है। जो सामाजिक एकीकरण की भावना को दर्शाता है। कबीर ने जिस सामाजिक कुरीतियों के बारे में उल्लेख किया है वह

तत्कालीन समाज के लिए अभिशाप से परिपूर्ण था। जिसको समूल नष्ट किये बिना देश और समाज का विकास सम्भव नहीं था।

आधुनिक सन्दर्भ में जन साधारण की विचारधारा में आमूल परिवर्तन के लिए कबीर साहित्य की नीतिपरक विचारों का प्रचार-प्रसार आवश्यक दिखता है "कबीर साहब यथार्थ में पुरूषार्थ के कवि हैं। उन्होंने भारतीय जनता में खोया हुआ आत्मविश्वास लाने की कोशिश की।"[1] आज भी इसकी नितान्त आवश्यकता है। जीवन तो अल्प है, लेकिन मनुष्य ने इसके लिए तैयारी बहुत कर रखी है। यह बात निश्चित है कि एक दिन इस संसार से जाना ही होगा। कबीर के कहने का आशय है कि छल कपट छोड़ कर, भक्तिभाव सहित जीवन यापन करना चाहिए।

भक्ति और भजन रूपी हरिनाव का आश्रय लेने में ही मानव जीवन की सफलता है। इसके अतिरिक्त सुखी जीवनयापन के लिए दूसरा उपाय नही हैं मानव जीवन अत्यन्त ही दुर्लभ है इसका उपयोग सार्थक रूप से होना चाहिए ऐसा अवसर बार-बार नही मिलता है जैसे पेड़ से टूटकर गिरा पत्ता पुनः डाल से नहीं जुड़ सकता है। कबीर का यह संदेश प्रत्येक प्राणी के लिए अनुकरणीय और लाभदायक हैं जैसे इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

दुर्लभ मानुष जनम है, देह न बारम्बार,
तरूवर ज्यों पत्ता झड़े, बहुरि न लागै डाँर।

"संत कबीर के मत से प्रत्येक प्राणी का जीवन लक्ष्य प्रभु प्राप्ति होनाचाहिए और जब तक ईश्वर का साक्षात्कार न हो जाए तब

तक कही भी रुकना नहीं चाहिए क्योंकि उनके मत से प्रभु ही चिन्तामणि है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् समग्र चिन्ता समाप्त हो जाती है। अतः उन्हीं को मन में प्रथम स्थान देना चाहिए।"[2]

"कबीर ने पहली बार भारतीय जनता को बताया कि मथुरा और काशी का महत्व गौण है। उनके पीछे भटकने की कोई जरूरत नहीं है। मुक्ति तो घर की चीज है।, तुम उसे केवल अपने बल पर आप ही प्राप्त कर सकते हो। यह विपन्न भारतीय जनता को एक अजीब आश्वासन था।"[3]

मन को नियंत्रित करने पर कबीर ने अत्यधिक जोर दिया है। समस्या इंन्द्रियों का संचालक पाप का एक विषय आकर्षणों में रमने वाला मन ही है। इसे वश में कर लिया जाय तो सब कार्य सुलभ हो सकता है। इसलिए मन को अनुशासित और संयमित रखना अति आवश्यक हैं। इससे मन अधः पतन का कारण नहीं बनकिर बल्कि मित्र के समान हो जाता है, फलस्वरूप आध्यात्मिक विषयों में आरूढ़ करने में परम सहायक बन जाता है। जो इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

मन गौरख, मन गोविन्दो मन ही ओघड़।
जो मन राखै जतन करि, तो अपि होई करता सोई।।

"हिन्दु-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठने वाले पहले संत, विचारक और कवि कबीर ही है। रूढ़ धार्मिक शास्त्रों, पूजा उपासना संबंधी जड़ताओं, मंदिर-मस्जिद विषय, अंध आस्थाओं, जाति-वर्ण संबंधी विभेदों और तमाम तरह के भारतीय जीवन के

अन्तर्विरोधों को उन्होनें निर्भयता के साथ अस्वीकार कर दिया।"[4] परमात्मा एक है, किसने यह कहकर भ्रमाया कि परमात्मा अनेक है। परमात्मा के नाम अनेक है, लेकिन वस्तुतः परमात्मा एक ही है। सिर्फ नाम का भेद हैं। वस्तुतः भगवान् एक है और एक ही प्रकार की माटी से सब जीवों की रचना हुई है। कबीर का कहना है कि दोनों भ्रम में है। जिस कारण वे लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते, आपस में ही उलझ कर रह जाते हैं। इसी तरह सभी मानव एक ही जमीन पर रहते हैं। इसमें कोई हिन्दू, कोई मुस्लिम कहलाता है। लेकिन सब में एक ही खून है, अतः ऊँच-नीच का स्थान कहीं भी नहीं है।

कबीर के विचार बहुत ऊँचे थे। वे हिन्दू-मुसलमानों के अन्तर को बिल्कुल पसन्द नही करते थे और दोनों को एक करना चाहते थे। उनके मत से ऊँचे कुल में जन्म लेने भर से कोई महान् या पंडित नहीं बन जाता । महान् बनने के लिए महान आत्मिक शुद्ध विचार ओर अच्छे कर्म चाहिए जिससे मानवता की सेवा हो सके, कबीर की यही मान्यता थी। जो इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

ऊँचे कुल क्या जनमियां,
जो करणी ऊँचन होई।

पंडित का काम है जन सेवा, लोक सेवा, राष्ट्र सेवा, लेकिन इसके विरीत उन्हें समाज विरोधी कार्यो में रत देखकर कबीर क्रोधित हो उठते हैं और फटकारते हुए कहते हैं कि तूराम नाम का जप छोड़कर नीच कर्मो में क्यों लिप्त रहता है। वेद पुराण की बाते,

सिर्फ गधे के बोझ जैसा अपने ऊपर रखे हो, लेकिन वास्तविक वेद का ज्ञान तुम्हें नहीं है। कबीर एकता के समर्थक थें। किसी तरह का भेद–भाव उन्हें बर्दाश्त नहीं था। ''ना हिन्दु ना मुसलमान' की घोषणा करने वाले संत कबीर वह प्रथम संत कवि थे। जिन्होनें धर्म निरपेक्ष समाज की कल्पना की। आज लगभग छः शताब्दियों के उपरान्त भी कबीर के सत्य वचन चिर नवीन हैं और आज के सामाजिक संदर्भों में सटीक है।''[5]

इसी तरह गांधी ने भी समाज में सबसे हीन समझे जाने वाले अछूत जाति के लिए 'हरिजन' शब्द का उपयोग कर उनके उद्धार के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाया। कबीर और गाँधी दोनों मानवतावादी संत थे। जिनका उद्देश्य एक था, जन कल्याण और लोक कल्याण। इस तरह यह स्पष्ट है कि कबीर साहित्य आज भी प्रासंगिक है। इसकी महत्ता आज भी वही है जो कि पंद्रहवीं शताब्दी में थी।

"कबीर सच्चे मानवतावादी थे। जिनका एक मात्र लक्ष्य मानव मात्र की कल्याण साधना था। वे उसी ज्ञान को स्तुत्य मानर्नें के पक्षधर थे। जिससे मानव की पीड़ा का शमन होता है।"[6] उनका विरोध समाज में व्याप्त दुर्गुणों से था जिसको निर्मूल करना उनका अभीष्ट था। आदर्श समाज की रचना के लिए आदर्श नागरिक का होना आत्यावश्यक है। ऐसा नागरिक जो सद्गुणों से परिपूर्ण हो सहिष्णु हो, शीलवान हो। आधुनिक सन्दर्भ में भी इसी चीज की आवश्यकता है। आज का मानव अध्यात्म से हट गया है। जिस

कारण समाज की अवस्था में गिरावट आ गई है। इस स्थिति में सुधार लाने हेतु कबीर के नैतिक विचार पूर्ण रूप से सशक्त है। कबीर का साहित्य साम्प्रदायिक सहिष्णुता के भाव से इतना परिपूर्ण है कि वह हमारे लिए आज भी पथ-प्रदर्शक का आकाशदीप बना हुआ है। अतः कबीर साहित्य की प्रासंगिकता कल भी थी, आज भी है और स्वस्थ एवं सबल समाज के निर्माण के लिए इसकी प्रासंगिकता बराबर बनी रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. विवेक दास, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0-84
2. डॉ0 प्रताप सिंह चौहान, कबीर साधना और साहित्य, पृ0-361
3. डॉ0 श्याम सुन्दर घोष, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0-95
4. डॉ0 शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0-1
5 डॉ0 सरनाम सिंह, कबीर एक विवेचन, पृ0-52
6. डॉ0 त्रिभुवन सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, पृ0-141

* हिन्दुस्तान टाइम्स, (लेख) 29 फरवरी 2002 ,पृ0-173-179

षष्टम् अध्याय

उपसंहार

हिन्दी के साहित्याकाश में कबीर एक जनकवि थें। उनकी अवधारणा समाज के उस बहुसंख्यक वर्ग के प्रति थी, जो ब्राह्मण प्रतिष्ठा के चलते सामाजिक रूप से निम्नता की हद तक उतर कर जीने को बाध्य था। वे सेवक के रूप में मात्र दास थे। ब्राह्मण आचार्यो की दृष्टि में यह उनका कर्म-भोग था, जिसे विवशता के साथ स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं था। उन्हें अछूत बनाये रखने के लिए एक ओर जहाँ आर्थिक उपादानों से अलग रहने का भाष्य दिया गया। वहीं दूसरी ओर बौद्धिक धरातल पर उन्हें पुंग बना देने के लिए ज्ञानार्जन के लिए अपात्र समझा गया, और इसका प्रतिरोध करने वाले शुद्र के लिए बर्बरता की हद तक जिस दण्ड-विधान का प्रारूप था। वह निश्चय ही सम्पूर्ण मानवता के लिए सम्पूर्ण भारतीयता के लिए बहुत शर्मनाक बात थी।

कबीर की चिन्ता उस जन के प्रति थी, जो वैदिक काल से चली आ रही धर्म-साधनाओं का अनेक रूढ़िग्रस्त विवादों के बीच केन्द्रित होते देखकर हतप्रभ था, जो अनेक गुरूओं आचार्यो की व्याख्याओं के बीच धर्मभीरू होकर ब्रह्म के सही स्वरूप के प्रति उत्सुक कथा, जो अनेक ब्रह्मवादियों को छाप-तिलक की निजी पहचान के लिए लड़ते हुए देख रहा था, जो स्वयं भी इन संघर्षो का भागीदार था।

कबीर की चिन्ता उस जन के प्रति थी, जो साधु का रूप धारण करते ही पलायनवादी होकर आराध्य हो जाता था, किन्तु गृहस्थ धर्म की हिस्सेदारी के साथ ही वह पथभ्रष्ट हो जाता था, जो सांसारिकता क विपरीत खान–पान और आचरण में ही ब्रह्म–प्राप्ति की इतिश्री समझता था, और कबीर की चिन्ता उस जन के प्रति थी जो मुस्लिम शासकों एवं सामन्तों द्वारा अपनी आस्था को मूर्ति–मंदिर के रूप में टूटते–रौंदते हुए देख रहा था। निश्चय ही यह उसकी सहन–शक्ति की पराकाष्ठा थी और समुचे देश में कभी भी गृह–युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सकती थीं। कबीर का युग शासकों–सामन्तों, आचार्यों महंतो द्वारा जनसामन्य के शोषण, का एक सर्वाधिक कुलषित दौर था। इन्हीं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में कबीर का विद्रोहात्मक प्रवृत्ति देखा जाना चाहिए।

कबीर एक व्यक्ति के रूप में स्वयं इस शोषण के शिकार थे। कोई भी रचनाकार समाज की विभत्स स्थितियों के बीच अपनी हिस्सेदारी के बिना रचनात्मक धरातल पर प्रमाणिक नहीं हो सकता। बालक कबीर ने होश संभालने के साथ ही अपने परिवार को सामाजिक प्रतिष्ठा के धरातल पर जिस रूप में पाया होगा, वह निश्चय ही उन करोड़ों शोषित लोगों में से एक था जो अपने अस्तित्व की तलाश में निरन्तर भटक रहे थे। जो ब्राह्मण–प्रतिष्ठा के साथ हेय हो गया। जो अपनी खोई हुई मर्यादा के प्राप्ति का स्वप्न लिए योगी से मुस्लिम तक बना। लेकिन अन्ततः शुद्र होकर रह गया।

कबीर ने किसी विवशता को अपनी सीमा के रूप में स्वीकार नहीं किया। वे सारी स्थितियाँ अन्ततः उनके लिए बहुत सहायक सिद्ध हुई, जो किसी भी प्रतिभा को कुण्ठित कर देने में सक्षम होती है। जिन तीर्थों और सन्तों के प्रति उनमें वितृष्णा थी, कबीर उन तक जाकर विभिन्न धर्मों की आन्तरिकता से साक्षात्कार कर सके। उनकी आशिक्षा उन्हें कवि के धरातल पर अभिभाज्य होने के विपरीत, जन-मानस से जोड़ने वाली भाषा प्रदान कर सकी, पर सबसे बड़ा क्षोभ तब होता है। समाज में जिन लोगों की पक्षधरता के लिए रचनाकार लड़ता है, जब वही उसकी संघर्ष-यात्रा का विरोध करने लगे। कबीर इस रूप में निश्चय ही अपने परिवेश से सन्तुष्ट नहीं थे। यही कारण है कि अपनी सृजनात्मकता के प्रति वह माँ और कभी पत्नी को प्रतिरोध के रूप में व्यक्त कर गये।

कबीर की रचनाओं में भक्ति के जितने पक्ष प्राप्त होते हैं। उनका खण्डनात्मक पक्ष उससे किसी भी रूप में कम दिखायी नहीं देता। कबीर ग्रन्थावाली में ऐसे सैकड़ों पद, सााखियाँ, रमैनियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें कभी वह आचार्यों के प्रति व्यंग्य करते हैं, उनका खुलकर विरोध करते हैं और कभी उन्हें उदार ढंग से दक्षित करते हुए दिखायी देते हैं। पर उनकी सम्पूर्ण चिन्ता जीव पर जाकर केन्द्रित हो जाती है। यह जीव ही उनका 'जन' है, भले ही वह साधक हो, योगी हो, आचार्य हो अथवा गृहस्थ। कबीर बहुत बड़े भक्त थे। किन्तु उनकी भक्ति, पलायनवादी, सन्यासी की भक्ति न होकर, समाज के लिए व्यावहारिक भक्ति थी।

कबीर का दर्शन और योग भी वस्तुतः उस व्यावहारिक भक्ति का पूरक था। वह जीव, जगत, माया और ब्रह्म का निरूपण जिस रूप में करते हैं। वह निश्चय ही तत्कालीन युग के लिए बहुत व्यवहारिक था। उनकी दृष्टि में जीव, जगत माया उस ब्रह्म की ही उपाधियाँ हैं। व्यवहार जगत् में यह आत्मसात् कर लेने पर मनुष्य के वे सारे परस्पर संघर्ष मिट जाने की संभावना बनती है, जिन्हें वह भेद की दृष्टि से देखता हुआ, संघर्ष को जन्म देता है। सारा संसार ही जब उस ब्रह्म का अंश है तो संघर्ष की बात ही कहां शेष रह जाती हैं? ऐसे में मनुष्य का परस्पर संघर्ष, ब्रह्म के प्रति किया संघर्ष होगा। कबीर का जीव, जगत् एवं माया-निरूपण निश्चय ही मानवता की भावना से उद्भूत रहा है। ठीक इसी प्रकार वे ब्रह्म को निर्गुण बताकर साधु-सन्यासी, गृहस्थ, आचार्य, हिन्दू, मुस्लिम एवं अनेक सम्प्रदाओं का झंडा उठाये चलने वाले उन लोगों की आस्था को निर्मूल कर देते हैं। जो ब्रह्म के नाम-रूप-आकार, सम्प्रदाय की पहचान के लिए हिंसा के धरातल तक लड़ने को तत्पर रहते थे। कबीर जिस ब्रह्म का गुणगान करते हैं, वह कहीं भी न होकर सर्वत्र है, वह मनुष्य के भीतर है। अर्थात् धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक हिंसा करने वाला वास्तव में व्यक्ति के रूप में उस ब्रह्म की ही हिंसा कर रहा है। कबीर निर्गुण ब्रह्म के बहाने उस हिन्दू को सहन शक्ति देते है जो अपनी आस्था को नीच तरह के हाथों अपमानित होते देख रहा है। कबीर उस मूर्ति और मन्दिर का अस्तित्व निराधार बताकर वस्तुतः सामाजिक संघर्ष को टालने का प्रयत्न करते है। कबीर एक

ऐसे परमतत्व का गुणगान करते है, जो अनेक आवतारिक लोगों का अराध्य रहा है और जिसकी शरण में शासक–मुल्ला–काजी, पंडित, चमार सबको एक साथ समान अधिकार प्राप्त है। निगुण ब्रह्म का यह स्वरूप निश्चय ही तम्कालीन समाज की एकता और प्रेम के लिए कबीर द्वारा प्रस्तुत एक बहुत बड़ा आधार है। इस रूप में कबीर की भूमिका स्पष्ट हो जाती है।

सांसारिक संघर्ष से विमुख कर कबीर अपने जन को इतना आत्मलीन कर देना चाहते हैं कि वह किसी भी धरातल पर बाह्य–उपलब्धियों से प्रभावित हो। यही कारण है कि उनके ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग आत्मलीन हो जाने में है। जीवात्मा ब्रह्म के लिये विरह का अनुभव करती है और मिलन की दशा में वह उसे छोड़ती नहीं। स्पष्टतः कबीर जीव को आन्तरिक रूप से इतना आत्मस्थ कर देना चाहते हैं कि वह जगत् की उपाधियों के प्रति विस्मृत हो जाय। इस आन्तरिकता को गहन करने के लिए कबीर 'सुरति', 'निरति' की आयोजना करते हैं। इसी आन्तरिकता के तहत कबीर योग को वरेण्य मानते हैं।

किसी भी कालजयी रचनाकार की सबसे बड़ी उपलब्धि ा यही होती है कि वह अपने वर्तमान को प्रभावित करता हुआ, आने वाले युग का भी पथ प्रशस्त करे। आज शताब्दियों बाद भी कबीर की प्रासंगिकता पूर्ववत् बनी हुई है, और जब तक ये धार्मिक–सामाजिक संघर्ष चलते रहेंगे, उनकी वाणियां मानवता का पथ प्रशस्त करती रहेगी। भले ही आज औद्योगिक वातावरण में हम उस महामानव को

अर्थहीन मान लें। किन्तु औद्योगिक सभ्यता जहाँ एक ओर मनुष्य को क्रमशः और ऊँचाई तक जाने का अवसर दे रही है। वहीं मनुष्य की मानसिक असुरक्षा उसे और भी संकीर्ण बनाकर पाखण्डो की ओर ले जा रही है। मनुष्य की हिंसक वृत्तियाँ बढ़ रही है, शोषण बढ़ रहा है। कबीर की वाणियाँ अब भी व्यापक मानवता के लिए शोषितों का पक्ष लेती रहेगी।

कोई भी महापुरूष अपनी युगीन परिस्थितयों के आलोक में आगत का अनुमान सुविधा से कर लेता है। कबीर अपने युगीन संघर्षो की ओट में जिस महाविनाश का दर्शन कर सके। उससे उनका सन्त हृदय निश्चय ही बहुत प्रभावित हुआ। यही कारण है कि उन्होनें उस संघर्ष को समाप्त करने में व्यष्टि साधनाओं को परमतत्व के सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने का साहसिक कार्य किया। इस प्रक्रिया में उन्हें खंडन-मंडन का आश्रय लेकर अपने समय का कटु विवेचन करना पड़ा। इस खंडन के साथ ही उन्होनें विभिन्न धर्मो के आराध्य परमतत्व का सर्वथा नया रूप विवेचित किया, जो मनुष्य के भीतर था, जो किसी भी बाह्याडम्बर से परे था, जो मानव मात्र था। वह हिन्दु था, न मुसलमान, न साधक, न ही शुद्र। जो मनुष्य के प्रति ईश्वरीय प्रेम का आधार था। जो मात्र कृष्ण नही था, राम नही था, खुदा नहीं था, इन सबसे अलग परम 'ब्रह्म' था। और जीव जगत् में मनुष्य था। वह गुण होते हुए भी निर्गुण था। राम भी था, रहीम भी। किन्तु निर्णयात्मक स्थिति में वह जीव की सत्ता से परे नहीं था।

कबीर ने भारतीयता की गहरी आस्था को व्यापक मानवता की ओर मोड़कर साम्प्रदायिकता को निर्मूल किया ही, साथ ही मानव-समाज की समस्त हीनताओं का निराकरण कर, जातिगत व्यवसाय को चैतन्य की सेवा का माध्यम बताते हुए कर्म की प्रतिष्ठा की। कबीर के साधना और सिद्धान्त में मूलतः व्यापक मानवता का साध्य था। यही कारण है कि वहां जीवित अवस्था में संघर्ष करने वालों के श्राद्ध-कर्म से क्षुब्ध थे।

कबीर का दृष्टिकोण मानव के जीवितावस्था के प्रेम से सम्बन्धित था, वे जीवितावस्था में ही मोक्ष की कामना करते थे। और यह मोक्ष भी उनके मानव-प्रेम में जाकर विरोहित हो जाता था। वह मानव को इस लोक में ही पारलौकिक सुखों से भर देना चाहते थे। इस यात्रा में वह समाज के आचार्य, क्षत्रिय, शुद्र से लेकर सत्ता की ऊँचाई पर जी रहें शासक तक को शामिल कर रहे थे। वह सबको मनुष्य के धरातल पर एक ही चैतन्य की सृष्टि पा रहे थे। उनके मानवीय अधिकारों का पद-प्रतिष्ठा के आधार पर मूल्यांकन उन्हें अर्थहीन लगता था।

इस तरह कबीर के साधना-सिद्धान्त के मूल में मनुष्य था, मनुष्य से निर्मित समाज था। वे जो कुछ कर रहे थे, अपने समाज के लिए, उसके बौद्धिक उन्नयन के लिए इस बौद्धिकता को वह चैतन्य के धरातल तक ले जाकर, मनुष्य को बाध्य उपलब्धियों के प्रति निरपेक्ष एवं अहंकार ही न कर देना चाहते थे। क्योंकि ये उपलब्धियों और अहंकार ही मनुष्य को अनेक भेदों में बांटकर चैतन्य

की हिंसा के प्रति प्ररित कर रहे थे।

कबीर उस समूचे संघर्ष को इन प्रेरक शक्तियों के विनाश से तोड़ रहे थे। निश्चय ही उनके स्वप्न में एक समाज था, जो बौद्धिक धरातल पर चैतन्य तक जाकर मनुष्य मात्र को प्रेम कर सके। उसे ही वेद माने, साधना लोकाचार भी। उसे ही तीर्थ समझे, नमाज, और योग भी। कबीर बहुत बड़े भक्त थे, बहुत बड़े सन्त थे, किन्तु वह जनकवि थे। उनका साध्य व्यष्टि-साधना नहीं, समस्टि तथा समाज था। उन्होंने अपने भक्त और सन्त का उपयोग समाज को दिशा देने के लिए किया। इन्हीं अर्थो में वह बहुत बड़े मानवतावादी थे।

कबीर अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुए यह विवादास्पद हो सकता हैं। कोई भी समाजदर्शी रचनाकार अपनी वैचारिकता किसी युग विशेष के लिए ही नहीं देता। उसकी रचना का उपयोग विभिन्न युगों में समाज के उस परिप्रेक्ष्य में होता है, जिसके तहत वह अपनी वैचारिकता प्रदान करता है। यह आवश्यक नहीं कि उसकी विचारधारा कुछ जन और एक युग में सार्वभौम हो जाय। वह तो युगों के लिए सतत् ज्योतिर्मय आलोक है। अतः यह कहना कि कबीर कितने सफल हुए? निश्चय ही उनकी उपलब्धियों पर एक पूर्वाग्रही दृष्टि होगी। वैसे भी कबीर की वैचारिकता उनके युग की जड़ताओं को तोड़ने में सफलता हुई ही।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कबीर अपने समय की साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा दंडित हुए। उनके सिद्धान्तिक बिचारों

की सफलता ही उनके दंड का कारण बनी होगी। आज सैकड़ों वर्षो बाद भी भले हम व्यवहार-जगत् में परम्परा, और रूढ़ियों का सहारा लें। किन्तु वैचारिक रूप से हम उन सारे मतों को स्वीकार करते हैं, जो कबीर की शाब्दिक सम्पत्ति है। यह बात और है कि आज अपने व्यवहार में आने वाले धर्मो के खोखले पन पर सोचते हुए हमारे समक्ष किसी महापुरूष का नाम नहीं होता। वस्तुतः यह सोच हमें कबीर जैसे सन्तों से ही उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हुई।

परिशिष्ट

*

1) 'डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संसकरण (1971)

2) कबीर और कबीर पंथ, डॉ0 केदारनाथ द्विवेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, सन 1965

3) कबीर ग्रन्थवली, डॉ0 श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारिणीसभा, वाराणसी, 16वाँ संस्करण

4) कबीर : जीवन और दर्शन, डॉ0 राम निवास चंडक, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण

5) कबीर बीजक, डॉ0 शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन, खुसरोबाग रोड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सन 1972

6) कबीर वचनावली, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 11वाँ संस्करण, सम्वत 2015

7) कबीर साहित्य की परख, परशुराम चर्तुवेदी, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण संवत् 2011

8) कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, सम्पादक विवेक दास, कबीर वाणी प्रकाशन, वाराणसी, 1978

9) जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 17वाँ संस्करण सम्वत् 2041

10) संत कबीर, डॉ0 रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लि0 इलाहाबाद, प्रथम बार 1943

11) हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ0 पीताम्बर दत्त बडथ्वाल,

अनु0, परशुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिकेशन हाउस, लखनऊ
12) नानक वाणी, डॉ0 जयराम मिश्र, लोक भारती प्रकाशन, 15ए, इलाहाबाद-1, तृतीय संस्करण, 1952
13) कबीर जीवन और दर्शन, उर्वशीसूरती, लोक भारती प्रकाशन, 15ए एम0जी0 मार्ग, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण, 1972
14) कबीर ग्रन्थावली, संजीवनी व्याख्या सहित, सं0 डॉ0 भगवत स्वरूप मिश्र, विनोद प्रकाशन मन्दिर, आगरा-3, तृतीय संस्करण, 1977
15) कबीर की विचार धारा, डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, श्रद्धानन्द पार्क, कानपुर, द्वितीय संस्करण सम्वत, 2014
16) हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं0 डॉ0 नगेन्द्र, मयूर पेपर वैक्स प्रकाशक, नोएडा, प्रथम संस्करण, 1973
17) कबीर, डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1996
18) कबीर ग्रन्थावली, सं0 माता प्रसाद गुप्त, प्रमाणिक प्रकाशन, आगरा, 1969
20) कबीर सुधा, डॉ0 पारसनाथ तिवारी, 1972
21) कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा, 1931
22) कबीर साहित्यक अध्ययन, पुरूषोत्तमलाल श्रीवास्तव, सं0 2008
23) दिल्ली सल्तन्त, आशीर्वादी लाल, तृतीय संस्करण 1959
24) हिन्दी साहित्य का आलोचानात्मक इतिहास, डॉ0 राम कुमार

वर्मा, 1954

25) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1961 ई0

26) भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, रतिभानु सिंह नाहर, प्रथम संस्करण

27) उत्तर भारत की सन्त परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद सम्वत् 2008

28) पूरा कबीर, सं0 डॉ0 बलदेववंशी, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001

29) कबीर की खोज, सं0 राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2001

30) लौह पुरुष कबीर, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001

31) कबीर के आलोचक, डॉ0 धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2001

32) कबीर, डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली तृतीय संस्करण

33) मध्य कालीन हिन्दी साहित्य, डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1979

34) कबीर मीमांसा, डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन,इलाहाबाद 1979 ई0

35) मध्य युगीन काव्य साधना, डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

36) मध्यकालीन धर्म साधना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1952 ई0

37) कबीर साहित्य की भूमिका, डा0रामरतन भटनागर, रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद 1950 ई0

38) कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, श्री विवेक दास, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

39) कबीर : साधना और सहित्य, डॉ0 प्रताप सिंह, ग्रंथम कानपुर 1976 ई0

40) भक्ति आन्दोलन का अध्ययन,रतिभानु सिंह नाहर, किताब महल इलाहाबाद

41) भक्ति आन्दोलन प्रेरणा स्रोत, डॉ0 मलिक मोहम्मद, रंजन प्रकाशन आगरा

42) इतिहास और आलोचना, डॉ0 नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

43) हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, नागरी प्रचारणी सभा, काशी

44) कबीर–पंथ, सं0 महन्थ भगवानदास, नई दिल्ली

45) गोरखबानी, डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

46) मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक, तत्विक अध्ययन, डॉ0 सत्येन्द्र, विनोद, प्र0.म0आ0, प्रथम संस्करण

47) निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्टभूमि, डॉ0 मोती सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत 2019

48) कबीर की भाषा, डॉ0महेन्द्र, शब्दाकार, दिल्ली, 1969 ई0

49) कबीर की भक्तिभावना, डॉ0 विलियम दायर, मैकमिलन, दिल्ली

50) कबीर : व्यक्तित्व कृतित्व और सिद्धात, डॉ0 सरनाम सिंह शर्मा

51) कबीर प्रकाश, श्री ग्रृन्ध मुनिनाम साहब, कबीर–टेकरी, राजकोट

52) कबीर का सहज दर्शन, प्रो0 जय बहादुरलाल, नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ

53) कबीर–वाणी–पियूष, डॉ0 जयदेव सिंह, डॉ0 वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1979 ई0

54) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ0 रामकुमार वर्मा, रा0 बे0 इलाहाबाद 1971 ई0

55) एक कबीर विवेचन, डॉ0 सरनाम सिंह, हिन्दी साहित्य सस्कार, दिल्ली, 1960 ई0

56) कबीर– पंथी जीवन चर्या, श्री अभिलाषदास, कबीर संस्थान, इलाहाबाद, 1975 ई0

57) कबीर एक नव्य बोध, डॉ0 बैजनाथ शुक्ल, ग्रंथम्, कानपुर

58) कबीर बीजक, प्रियादास, सत्यनामप्रेस, वाराणसी, 1883ई0

59) संतवाणी संग्रह, वेल वेडियर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण

60) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, उमाशंकर मेहरा, विनोद प्रकाशन मंदिर आगरा 1977 ई0

Please contact to :-

Printed and Compiled by

Sita Computer Academy

(Computer Education)

790/28-B/128-A

Ramanand Nagar, Bhradwaj Puram

Allahabad-211006

Phone no. 501986